प्रकाशक

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य

श्री झवरलालजी बैद, नई दिल्ली

मूल्य पचास रुपये मात्र

मुद्रक

कल्याणी प्रिन्टर्स

अलख सागर रोड, बीकानेर

दूरभाष २५२६८६०

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जेन परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रातदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभोम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नही, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज वन गया। उन्होने व्यक्ति समाज, ग्राम, नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो पत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्बोधनो के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा मे आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियो के जीवन–वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम मे गृहस्थ धर्म भाग–1 किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत हे। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेगे।

युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, ज्योतिर्धर, आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का महाप्रयाण भीनासर मे हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग मे जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण, कर्मनिष्ठ, आदर्श समाजसेवी स्व सेठ चम्पालालजी बाठिया का चिरस्मरणीय, श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासो ओर समाज के उदार सहयोग से
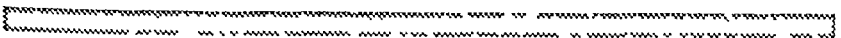
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। सस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है ओर पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व मे सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियो का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद मे सस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासो से किरणावलियो की सख्या बढाकर 53 कर दी गई। आज यह सेट प्राय बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ मे यह निर्णय किया गया कि किरणावलियो को नया रूप दिया जावे। इसके लिए सस्था के सहमत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियो को एक साथ समाहित किया ओर पुन सभी किरणावलियो को 32 किरणो मे प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म सा के साहित्य के प्रचार–प्रसार मे जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक ओर भारत तथा विश्वव्यापी बनाने मे श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। सघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी सगठन ओर कार्यकर्ताओ के बल पर जवाहर किरणावलियो के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन मे अप्रतिम योगदान प्रदान किया हे। आज सघ के प्रयासो से यह जीवन निर्माणकारी साहित्य जेन–जेनेतर ही नही, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। सघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हे।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ मे समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60 000 रु एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व मे लगभग सभी किरणावलियॉ उनके सोजन्य से प्रकाशित की गई थी। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला सस्करण श्रीमान् तोलारामजी मिन्नी मद्रास के सोजन्य से प्रकाशित किया गया ओर प्रस्तुत किरण 21 (गृहस्थ धर्म भाग–1) के अर्थ सहयोगी श्री झवरलालजी बेद, नई दिल्ली हे। सस्था सभी अर्थ–सहयोगियो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हे।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	थादला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	श्री जीवराजजी कवाड
माता	श्रीमती नाथीवाई
दीक्षा स्थान	लिमडी (म प्र)
दीक्षा तिथि	वि स 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	रतलाम (म प्र)
युवाचार्य पद तिथि	वि स 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	वि स 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	भीनासर (राज)
स्वर्गवास तिथि	वि स 2000, आषाढ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

आचार्यश्री जवाहर—ज्योतिकण

- विपत्तियो की तमिस्र गुफाओ के बीच जिसने सयम—साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।
- सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू—मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम—सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।
- परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव—गाव, नगर—नगर पाद—विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन—जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी—अभियान चलाकर जिसने जन—मानस मे खादी—धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारभ—महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम—सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन मे गहरे चितन—मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मा गाधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय—समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू—मडल पर विचरण करते थे।
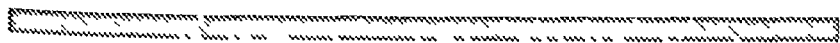
"हुक्म संघ के आचार्य"

आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा – दीक्षा वि स 1870, स्वर्गवास वि स 1917

ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।

आचार्य श्री शिवलालजी म सा – दीक्षा वि स 1891, स्वर्गवास वि स 1933

प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।

आचार्य श्री उदय सागरजी म सा – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि स 1954

विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तो के आदर्श, विलक्षण।

आचार्य श्री चौथमलजी म सा – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि स 1957

महान क्रियावान, सागर सम गभीर, सयम के सशक्त पालक, शात -दात, निरहकारी, निर्ग्रन्थ शिरोमणि।

आचार्य श्री श्रीलालजी म सा – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि स 1977

सुर–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि स 2000

ज्योतिर्धर, महान क्रातिकारी, क्रातदृष्टा, युगपुरुष।

आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि स 2019

शात क्राति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।

आचार्य श्री नानालालजी म सा – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि स 2056

समता–विभूति, विद्वद्शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण ध्यानयोगी।

आचार्य श्री रामलालजी म सा – दीक्षा 2031, आचार्य वि स 2056 से

आगमज्ञ तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी सिरीवाल–प्रतिबोधक व्यसनमुक्ति क प्रबल प्रेरक बालब्रह्मचारी प्रशातमना।

अर्थ–सहयोगी परिचय

श्रेष्ठीवर्य समतासाधक, शासननिष्ठ समाजसेवी, सघरत्न शासनगौरव उदारमना

श्री झंवरलालजी बैद, नई दिल्ली

जैन समाज मे कुछ विरले समाजसेवी ऐसे भी हैं जो मान–सम्मान की परवाह किये बगैर निष्काम भाव से मानव–सेवा मे रत रहते है। ऐसे ही बिरले व्यक्तित्व के धनी नई दिल्ली निवासी श्री झवरलालजी बैद है। आपके पिताजी श्री जेसराजजी एव माताजी सुगनीदेवी बैद ने आपको बचपन मे ही सुसस्कारो का अमूल्य खजाना प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप आप अल्पवय से ही धार्मिक गतिविधियो मे विशेष रुचि लेते रहे। चारित्र आत्माओ एव विद्वज्जनो के प्रति आपकी गहरी निष्ठा एव आदर–सत्कार का भाव रहा। आपकी उच्च सोच, नैतिकता एव प्रामाणिकता का ही प्रतिफल है कि आज आपका व्यवसाय समृद्धि के धरातल पर खडा हुआ है। सम्पूर्ण जैन समाज मे आप अपनी दृढ इच्छाशक्ति एव उच्च विचारधारा के लिये विशिष्ट स्थान रखते है।

मधुर मुस्कान के धनी श्री बैदजी ने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते हुए अनेक सस्थाओ मे मुक्तहस्त से दान दिया। साधुमार्गी सघ के प्रति आपकी गहरी श्रद्धा–समर्पणा एव आस्था है। इसी के फलस्वरूप आप श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा कोलकाता के 6 वर्ष तक महामत्री, 6 वर्ष तक मत्री तथा 2 वर्ष तक उपाध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। श्री साधुमार्गी जैन सघ दिल्ली के ट्रस्टी, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एव श्री साधुमार्गी जैन बीकानेर श्रावक सघ बीकानेर के अध्यक्ष के रूप मे आपकी सेवाए अविस्मरणीय रही। ऑल इण्डिया होजयरी फैडरेशन (ईस्ट जोन) के पूर्व–महामत्री के रूप मे आपने

व्यवसायियो को अपनी तार्किक प्रज्ञा का परिचय दिया। शाकाहार, नशामुक्ति तथा पर्यावरण आदोलन के समर्थक श्री वैदजी ने समय–समय पर साहित्य आदि वितरण कर इस दिशा मे भी उल्लेखनीय कार्य किये। शिक्षाप्रेमी के रूप मे आप छात्रो को बुक बैक के माध्यम से नि शुल्क पुस्तके उपलब्ध करवाते रहे हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी आपके कार्यो को बराबर गति देती रहती है। आप भी अत्यत मिलनसार एव धार्मिक प्रवृत्ति की सद्गृहिणी है। परम् श्रद्धेय आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म सा के प्रति आपकी आगाध श्रद्धा अन्यो के लिये प्रेरणा का स्वरूप है। आपके धार्मिक, सामाजिक प्रकल्पो की एक लम्बी शृखला है जिसे यहा सक्षिप्त मे समेटा गया है। आचार्यप्रवर श्री जवाहरलालजी म सा के प्रवचनो की शृखला जवाहर किरणावली के इस भाग के दानदाता के रूप मे अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग कर आपने अनुपम गुरुभक्ति का परिचय दिया है।

अनुक्रम

सम्यक्त्व

1. सम्यक्त्व का महत्त्व

सम्यक्त्व रत्नान्न पर हि रत्न,
सम्यक्त्व मित्रान्न पर हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बन्धोर्न परो हि बन्धु,
सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभ।।

जैन शास्त्रो मे तीन रत्न प्रसिद्ध हे, उन्हे रत्नत्रय भी कहते है, मगर सम्यक्त्व–रत्न उन तीनो मे प्रधान है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक्चारित्र, ये तीन रत्न हैं। पर सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन की मोजूदगी मे ही ज्ञान ओर चारित्र मे सम्यकता आती है। जहा सम्यग्दर्शन नही, वहा सम्यग्ज्ञान भी नही और सम्यक् चारित्र भी नही। सम्यग्दर्शनहीन ज्ञान ओर चारित्र मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते है।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नही कर सकते। उनसे भव–भ्रमण का अन्त नही हो सकता। यही नही, वे भव–भ्रमण के ही कारण होते है। कहा भी है–

श्लाघ्य हि चरण ज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञान चारित्रे, मिथ्यात्व विष दूषिते।।

सम्यग्दर्शन कदाचित् विशिष्ट ज्ञान ओर चारित्र से रहित हो, तब भी वह प्रशसनीय है। उससे ससार परित्त हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व के विष से विषैले विपुल ज्ञान और चारित्र का होना प्रशसनीय नही है।

सम्यक्त्व से बढ कर आत्मा का अन्य कोई मित्र नही है। मित्र का काम अहित मार्ग से हटा कर मनुष्य को हित–मार्ग मे लगाना है। इस दृष्टि से

सम्यक्त्व ही सबसे बडा मित्र है। जब आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है। उसे हित–अहित का विवेक हो जाता है। जब तक जीव मिथ्यात्व की दशा मे रहता है, तब तक तो वह हित को अहित और अहित को हित समझता रहता है और उसी के अनुसार प्रवृत्ति भी करता रहता है, किन्तु सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही दृष्टि का विभ्रम हट जाता है और आत्मा को सत्य तत्त्व की उपलब्धि होने लगती है। वह हेय–ज्ञेय और उपादेय को समीचीन रूप से समझने लगता है। इस प्रकार हित–मार्ग मे प्रवृत्ति कराने के कारण और अहित मार्ग से बचाने के कारण सम्यक्त्व परम मित्र है।

सम्यक्त्व अनुपम बन्धु है। बन्धु का अर्थ है सहायक। जब आत्मा अपने कल्याण–पथ मे प्रवृत्ति करने के लिए उद्यत होता है, तो सम्यक्त्व ही सर्वप्रथम उसका सहायक होता है। अन्य सहायको की सहायता से जो सफलता मिलती है, वह क्षणिक होती है और कभी–कभी उसमे असफलता छिपी रहती है, परन्तु समयक्त्व रूप सहायक के सहयोग से मिलने वाली सफलता चिरस्थाई होती है और उसके उदर मे असफलता नही होती।

ससार म विषय–कषाय के अधीन होकर जीव नाना प्रकार के पदार्थों की कामना करते है। जिनकी मनुष्य कामना करते है, वे पदार्थ इष्ट कहलाते है और उनके लाभ को वे परम लाभ समझते है। किन्तु उन प्राप्त हुए पदार्थों की वास्तविकता पर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि उन पदार्थों से आत्मा का किचित् भी कल्याण नही होता। यही नही, वरन् वे पदार्थ कभी–कभी तो आत्मा का घोर अनिष्ट साधन करने वाले होते है। ऐसी स्थिति मे सहज ही समझा जा सकता है कि सम्यक्त्व के लाभ से बढकर ससार मे और कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही तीव्रतम लोभ और आसक्ति का अन्त कर देता है और फिर धीरे–धीरे आत्मा को उस उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है कि जहा किसी भी सासारिक पदार्थ के लाभ की आकाक्षा व आवश्यकता ही नही रहती।

सम्यक्त्व मोक्ष–मार्ग का प्रथम साधन कहा गया है। जब तक आत्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती तब तक उसका समस्त आचरण समस्त क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान नगण्य है। आत्म–कल्याण की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नही है। कहा भी है--

ध्यान दुखनिधानमेव, तपस सन्ताप मात्र फलम्,
स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध्य एव कुधिया तेऽभिग्रहा कुग्रहा।

अश्लाघ्या खलु दान शील तुलना तीर्थादि यात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीन मन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडु ।।

सम्यक्त्व के अभाव मे जो भी क्रिया की जाती है, वह आत्म–कल्याण की दृष्टि से व्यर्थ ही होती है। ध्यान दु ख का निधान होता है, तप केवल सन्ताप का जनक होता है मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय निरर्थक है, उसके अभिगह मिथ्या आग्रह–मात्र है। उसके दान, शील तीर्थाटन आदि सभी–कुछ नगण्य है– निष्फल है। वे मोक्ष का कारण नही होते है।

जिस सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है उसकी प्रशसा कहा तक की जा सकती है? पाचीन ग्रन्थकारो ने उत्तम–से–उत्तम शब्दो मे सम्यक्त्व की महिमा गाई है। यहा तक कहा गया है–

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्व ग्रस्त चेतस ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्व व्यक्त चेतना ।।

जिसका अन्त करण मिथ्यात्व से ग्रस्त है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान हे ओर जिसकी चेतना सम्यक्त्व से निर्मल है, वह पशु हो तो भी मनुष्य के समान है।

मनुष्य और पशु मे विवेक ही प्रधान विभाजन–रेखा है और सच्चा विवेक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर ही आता है।

वास्तव मे सम्यग्दर्शन एक अपूर्व और अलौकिक ज्योति है। वह ज्योति जब अन्तर मे जगमगाने लगती है तो अनादिकाल से आत्मा पर छाया हुआ अन्धकार नष्ट हो जाता है। उस दिव्य ज्योति के प्राप्त होने पर आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगती है। उस आनन्द को न शब्दो द्वारा व्यक्त किया जा सकता हे और न उपमा के द्वारा ही। उस आनन्द की आशिक तुलना किसी जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त हो जाने पर होने वाले आनन्द के साथ की जा सकती हैं। जो मनुष्य जन्म–काल से ही अन्धा है और जिसने ससार के किसी पदार्थ को अपने नेत्रो से नही देखा है, उसे पुण्य–योग से कदाचित् दिखाई देने लगे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा? हम तो उस आनन्द की कल्पना–मात्र कर सकते है। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा मे समता का अद्भुत रससचार कर देती है, तीव्रतम रागद्वेष के सन्ताप को शान्त कर देती है और इस कारण आत्मा अप्राप्त–पूर्व शान्ति के निर्मल सरोवर मे अवगाहन करने लगती है।

सम्यग्दृष्टि के विषय मे शास्त्र मे कहा हे–

सम्मत्तदसी न करेइ पाव

–आचा सू

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नही करता हे। चोथे गुणस्थान से लगाकर चोदहवे गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हे ओर जो सम्यग्दृष्टि वन जाता हे वह नवीन पाप नही करता हे। इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नए पापकर्मों का वध रुक जाता हे। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नहीं रह पाते ओर जव अनन्तानुवधी क्रोध आदि नही रह पाते तो उनसे वधने वाले पापकर्म नही वधते। इसका कारण यह हे कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती हे। कारण ही न होगा तो कार्य केसे होगा? कारण के अभाव मे कार्य नही हो सकता।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता हे ओर जव मिथ्यात्व होता हे तभी नए कर्मों का वन्धन भी होता हे। ससार मे मिथ्यात्व किस कारण से हे? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता हे कि मिथ्यात्व का कोई–न–कोई कारण अवश्य हे, इसीलिए मिथ्यात्व हे। मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नही टिक सकता। जिसे जेल मे जाने की इच्छा नही होगी वह जेल मे जाने के कार्य नही करेगा। जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पडेगा। यह वात दूसरी हे कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पडे, मगर इस प्रकार जेल जाने वालो के लिए जेल, जेल नहीं, वरन् महल वन जाता हे, अर्थात् ऐसे लोग जेल मे भी आनन्द का ही अनुभव करते हें। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही है। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता हे तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिए। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुवन्धी कपाय हटाना चाहिए। जिसमे वह कपाय रहेगा, उसमे मिथ्यात्व भी रहेगा। अनन्तानुवन्धी कपाय हट जाए तो मिथ्यात्व भी नही रह सकेगा।

जव मिथ्यात्व नही रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती हें। जव तक मिथ्यात्व हे तव तक दर्शन की भी आराधना नहीं हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाय वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नही पहुचा सकता, वल्कि वह रोगी के लिए अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता हे। अतएव भोजन को पथ्य ओर हितकर वनाने के लिए सर्वप्रथम शरीर मे से रोग निकालने की आवश्यकता रहती ह। इसी प्रकार

जब तक आत्मा मे मिथ्यात्व–रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की आराधना नही कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जाएगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जाएगा तभी दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटा कर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी कोध, मान माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नही रहेगा और जब मिथ्यात्व भी नही रहेगा और जब मिथ्यात्व नही रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है। कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्म–श्रद्धा से विचलित नही कर सकेगा। इतना ही नही, किन्तु जैसे अग्नि मे घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है, उसी प्रकार धर्म–श्रद्धा से विचलित करने का ज्यो–ज्यो पयत्न किया जाएगा, त्यो–त्यो धर्म–श्रद्धा अधिक दृढ और तेजस्वी – पूर्ण होती जाएगी। धर्मश्रद्धा मे किस प्रकार दृढ रहना चाहिए, इस विषय मे कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया गया है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

2 सम्यक्त्व का स्वरूप

ससार मे सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते है। मिथ्यादृष्टि कोई नही रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाए तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव मे यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? सम्यक् का एक अर्थ प्रशसा–रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है। यद्यपि सच्चा सम्यक्त्व अविपरीतता मे ही है, पर शास्त्रकारयशस्वी कार्यो को भी समकित मे ही गिनते है।

विपरीत का अर्थ उलटा है और अविपरीत का अर्थ सीधा, जैसे–का–तैसा होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप मे देखना अविपरीतता है और उलटे रूप मे देखना विपरीतता है। उदाहरणार्थ– किसी ने सीप देखी। वास्तव मे वह सीप है, फिर भी अगर कोई उसे चादी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड मे विचरते समय मैंने मृग–मरीचिका देखी। वह ऐसी

दिखाई देती थी मानो जल से भरा हुआ समुद्र हो। उसमे वृक्ष वगेरह की परछाई भी दिखाई देती है। ऐसा होने पर भी मृग मारीचिका को जल समझ लेना विपरीतता है।

जैसे यह विपरीतता वाह्य पदार्थों के विषय मे है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषयो मे भी विपरीतता होती है। शास्त्रोक्त वचन समझ कर जो सम्यदृष्टि होगा वह विचार करेगा कि अगर मेने वस्तु का जैसा–का–तैसा स्वरूप न समझा तो फिर मै सम्यदृष्टि ही कैसा?

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमाहट देखकर चादी समझ ली जाती हे। अगर उसके पास जाकर देखे तो क्या कोई सीप को चादी मान सकता है? नही। इसी प्रकार ससार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे जाते हैं, तब तक वे जिस रूप मे माने जाते हैं उसी रूप मे दिखाई देते हैं, किन्तु अगर पदार्थों के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वे ऐसे नही प्रतीत होगे, बल्कि एक दूजे रूप मे दिखाई देगे। जब पदार्थों की वास्तविकता समझ मे आ जायेगी तब उनके सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाली विपरीतता मिट जायेगी। जब पदार्थों की वास्तविकता का भान होता है ओर विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्दृष्टिपन प्रकट होता है। सीप दूर से चादी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप मे सीप–पन तो पहले ही मौजूद था, परन्तु दूरी के कारण ही सीप मे विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चादी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता जान पडने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भली–भाति परीक्षण करने से वस्तु के विषय मे ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती हे, तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाति अन्य पदार्थों के विषय मे भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थों के विषय मे विपरीतता किस प्रकार हो रही है, इस विषय मे शास्त्र मे कहा है– 'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना', अर्थात् जीव को अजीव ओर अजीव को जीव समझना, इत्यादि दस प्रकार के मिथ्यात्व हैं। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि जीव को अजीव मानने वाले वहुत–से लोग है। कुछ का कहना है कि जो–कुछ हे, यह शरीर ही हे। शरीर से भिन्न आत्मा नही हे। यह शरीर पाच भूतो से वना है ओर जव पाचो भूतो का सयोग नष्ट हो जाता हे तो शरीर भी नष्ट हो जाता हे। इस प्रकार जीव–आत्मा को न

मानने वाले भी है। यह भी एक पकार का ज्ञान है, किन्तु यह मिथ्याज्ञान है। जीव मे अजीव की स्थापना करने का कारण यही है कि ऐसी स्थापना करने वाले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर है। जब वे सम्यग्ज्ञान के समीप आएगे तो जैसे समीप जाने से सीप मे चादी का मिथ्याज्ञान मिट जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जाएगा। उस समय उन्हे आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नही हुए है, आत्मा मानते है, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रग मे रगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नही करते। जैसे दूर रहने के कारण मृग–मरीचिका को जल समझ लिया जाता है और सीप चादी मान ली जाती है, उसी प्रकार जीव तत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते है। अगर वे जीव तत्त्व के निकट पहुचे तो उन्हे प्रतीत होगा कि वे भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे है, वह अजीव नही। जीव है।

'आत्मा नही है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरणार्थ– अधेरे मे रस्सी साप जान पडती है। किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जबकि साप का अस्तित्व है। साप का कही अस्तित्व न होता तो साप का भ्रम भी कैसे हो सकता था? जिसने जल देखा है वह मृग–जल मे जल की कल्पना कर सकना है, जिसने कभी कही जल का अनुभव नही किया वह मृग–जल देख कर जल की कल्पना ही नही कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नही है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहा से आता और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यो थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि ससार मे जितने भी समासहीन पद है, उन सब पदो के वाच्यपदार्थ भी अवश्य होते है। जो पद समासयुक्त है उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नही भी होता हे, मगर जिस पद मे समास नही होता, उस पद का वाच्य अवश्य होता है। आत्मा' पद समास–रहित है, अत उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिये। उदाहरण के तौर पर 'शशश्रृग' पद बोला जाता है। 'शशश्रृग' का अर्थ है खरगोश का सीग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नही । मगर 'शश' और श्रृग' शब्दो को अलग–अलग कर दिया जाए तो दोनो का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और श्रृग अर्थात् सीग, दोनो ही जगत मे विद्यमान है। जेसे 'शशश्रृग' नही होता, उसी प्रकार 'आकाश–पुष्प' भी नही

होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनो समास युक्त पद अलग–अलग कर दिए जाए तो दोनो का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भली–भाति सिद्ध हे कि जितने भी समास–रहित व्युत्पन्न पद है, उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोडा, घट–पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यो का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यो नही होगा?

यह हुई जीव मे अजीव के आरोप की वात। इसी प्रकार अजीव मे भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ– कुछ लोगो का कहना हे कि आत्मा एक ही हे और जेसे पानी से भरे हजारो घडो मे एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सव मे व्याप्त हे। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। यहा उदाहरण मे वतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारो घडो मे दिखाई देता हे, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घडो मे पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सब मे दिखाई देगा। अगर एक ही आत्मा चन्द्रमा की तरह सब शरीरो मे व्याप्त होती तो जो विविधता दिखाई देती है वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान दिखाई देता है, कोई बुद्धिहीन। कोई दुखी है, कोई सुखी है। अगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यो दिखाई देती?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीतता – भ्राति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते हे कि निश्चय मे सभी का आत्मासमान है। परन्तु व्यवहार करते समय, मानो यह बात भुला ही दी जाती है। 'मित्ती मे सव्व भुएसु', अर्थात् समस्त प्राणियो पर मेरा मेत्री–भाव है। इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीव, दु खी या भिखारी द्वार पर आता है तब सिद्धान्त का पालन कितना होता हे? यह देखना चाहिए। तुम्हे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दु खी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे–सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौडे जाओ परन्तु अपरिचित गरीव की रक्षा के लिये प्रयत्न न करो तो कहा जाएगा कि अभी तुम्हारे अन्त करण मे सच्चा करुणा–भाव उत्पन्न नही हुआ है। तुम्हारे हृदय मे सम्यक्त्व होगा तो सब की रक्षा करने का दया–भाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नही कि सम्यक्त्व हो, किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना

तो है, मगर पीला नही है तो उसे यही कहा जाएगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नही। इसी प्रकार जिसमे चिकनापन नही है, वह घी नही है। वह और कोई चीज होगी। इसी पकार हृदय मे दयाभाव न हो तो यही कहा जाएगा कि सम्यक्त्व पाप्त नही हुआ है जिसमे सम्यक्त्व होगा, उसमे दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी सम्बन्ध है।

3 दर्शनसम्पन्नता

गौतम स्वामी ने दर्शन के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया है–

प्रश्न – दसण सपन्नयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर – दसण सपन्नयाए ण भव मिच्छत्तछेयण करेइ, पर न विज्झाइय। पर अविज्झायमाणे अणुत्तरेण नाण दसणेण अप्पाण सजोएमाणे सम्म भावेमाणे विरहइ।।60।।

अर्थात्

प्रश्न – हे भगवान्! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर – हे गौतम! दर्शनसम्पन्न(सम्यग्दृष्टि) जीव ससार के मूल मिथ्यात्व, अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नही है और उस प्रकाश मे श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को सयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचारता है।

भगवान् ने दर्शन–सम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शन–सम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा मे रखे हुए दीपक के बुझ जाने का भय रहता है उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिये यह भय नही है। इसी कारण भगवान् ने अपने उत्तर मे 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शन–सम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, जिसके नाश होने का भय ही नही रहता। दर्शन–सम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

ससार–भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के बिना कार्य नही होता। ससार–भ्रमण रूप कार्य का कारण मिथ्यात्व हे। दर्शन–सपन्नता

मिथ्यात्व का नाश करती हे ओर कारण के अभाव मे कार्य किस प्रकार हो सकता हे? जो वस्तु जेसी हे, उसे विपरीत मानता ही मिथ्यात्व हे। मिथ्यात्व का छेद हो जाने से ससार– भ्रमण भी नहीं करना पडता।

मिथ्यात्त्व ससार का कारण हे ओर सम्यक्त्व मोक्ष का कारण हे– दर्शन–सम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता हे। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुप या तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है या भव–स्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव मे केवल–ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता हे, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक दार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नही होता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान ओर परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति, आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञान–दर्शन मे रमण करता हे।

4 सम्यक्त्व के भेद

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं– (1) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला (2) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (3) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनो प्रकार के सम्यक्त्वो मे कितना अन्तर हे? यह वात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती हे। एक पानी ऐसा होता हे जो मलीन हे, परन्तु दवा डालने से उसका मेल नीचे जम गया हे। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता हे कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता हे, परन्तु उसमे मेल साफ नजर आता हे। तीसरे प्रकार का पानी वह हे जो पहले मलिन था, किन्तु उसका मेल नीचे वेठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नही हे। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक मे शान्त हो, किन्तु प्रदेश मे उदायाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता हे। मिथ्यात्व का उदय जव प्रदेश ओर विपाक, दोनो से शान्त हो, तव उपशम सम्यक्त्व होता हे। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से ओपशमिक सम्यक्त्व अच्छा हे। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक हे। जव मिथ्यात्व प्रदेश ओर उदय, दोनो से पृथक्

हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी पदेश मे अथवा उदय मे न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

शास्त्रो मे श्रावक के लिए बारह वतो का विधान है। वे व्रत तो पालन करने योग्य है ही, परन्तु उनका मूल सम्यक्त्व है। जैसे मूल के अभाव मे शाखाए नही ठहरती, उसी पकार सम्यक्त्व के अभाव मे व्रत नही ठहरते।

कल्पना कीजिए एक आदमी सिर पर जरीदार पगडी पहने है, रेशमी कोट पहने और यथोचित आभूषण भी पहने है पूरी तरह श्रृगार से सजा है, मगर धोती न पहने हो, नगा हो तो क्या उसका श्रृगार भला दिखाई देगा? नही। तो जिस पकार ससार मे सर्वपथम धोती पहनना आवश्यक समझा जाता है, उसी पकार धर्म मे सर्वपथम सम्यक्त्व का होना नितान्त आवश्यक समझा जाता है।

शास्त्रकार कहते हैं– श्रावक का व्रतो के बिना तो काम चल भी सकता है, लेकिन सम्यक्त्व के बिना नही चल सकता। क्योकि जिसमे व्रत नही है, वह भी श्रावक कहला सकता है, परन्तु जिसमे सम्यक्त्व नही है, वह श्रावक नही कहला सकता।

श्रावक और श्रमणोपासक

1. श्रावक की व्याख्या

जैन परम्परा मे श्रावक शब्द बहुत प्रसिद्ध है। उसका प्रयोग आमतौर पर जैन गृहस्थ के लिये किया जाता है। जो व्यक्ति जैन कुल मे उत्पन्न हुआ है, वह श्रावक कहलाता है, ऐसी रूढि–सी हो गई है। मगर श्रावक कहलाने वाले पर कुछ दायित्व है, उसके कुछ कर्तव्य भी हैं, इस ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। अतएव यहा श्रावक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। कहा है–

श्रद्धालुता श्राति शृणोति शासनम्,
दान वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
क्रन्तत्य पुण्यानि करोति सयमम्।
त श्रावक प्राहुरमी विचक्षणा।।

'श्रावक' शब्द मे तीन अक्षर हैं और उन तीनो से श्रावक के अलग–अलग कर्तव्यो का बोध होता है। पहले अक्षर 'श्रा' से यह अभिप्राय निकलता हे कि श्रावक को जिन वचन मे दृढ श्रद्धा धारण करनी चाहिए ओर साधु समाचारी, श्रावक समाचारी और तीर्थंकर भगवान् की वाणी को श्रवण करना चाहिए।

साधु की समाचारी सुने बिना गुरु का निर्णय नही हो सकता ओर श्रावक की समाचारी सुने बिना अपने कर्तव्य का ज्ञान नही हो सकता। समाचारी का अर्थ है– कर्तव्य कार्य। साधु ओर श्रावक के शास्त्रविहित कर्तव्यो को श्रद्धा के साथ सुनना श्रावक शब्द मे रहे हुए 'श्रा' अक्षर का अर्थ है।

सुनना दो प्रकार का हे– एक श्रद्धापूर्वक ओर दूसरा मनोरजन के लिए या दुष्टबुद्धि से प्रेरित होकर। अर्थात् एक गुणदृष्टि से ओर दूसरा दोपदृष्टि

से। दोषदृष्टि से सुनने वाला यह सोच कर सुनता है कि देखू, वक्ता कहा चूकता है? कहा पकड मे आता है? इस प्रकार दोष खोजने की बुद्धि से सुनना श्रावक का कर्तव्य नही है। श्रावक तो श्रद्धाशील होकर, विश्वासपूर्वक सुनता है। यह ठीक है कि श्रावक अपनी बुद्धि और विचारशक्ति पर ताला लगा कर सुनने नही बैठता। अगर कोई बात उसे शास्त्र–सगत प्रतीत न हो तो वह तर्क–वितर्क करेगा और बिना समझे–बूझे नही मान लेगा, फिर भी उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषण करने की नही होगी। वह इस अभिप्राय से सुनने नही बैठेगा।

साधु पहले अपनी समाचारी श्रावको को सुना देगा और कहेगा कि इसे शास्त्र से मिला लो। फिर हमे साधु मानो। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है–

नाग दसण सपन्न सजमे य तवे रय।
गणिमागम सपन्न, उज्जाणम्मि समोसढ।।
रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खतिआ।
पुच्छति निहुअप्पाणो, कह भे आयारगोयरो।।

दश वै अ 6,1–2

अर्थात् ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा सयम और तप मे निरत आचार्य जब किसी नगर के उद्यान मे पधारते है तो राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण आदि पूछते है कि आपका आचार क्या है?

आज आचार–विचार को पूछने की प्रथा उड गई है। इस कारण साधुओ मे भी शिथिलता आ गई है और जब साधु ही अपनी समाचारी का दृढतापूर्वक पालन न करेगे तो श्रावक कब करेगे? फिर किसी पर किसी का दबाव नही रहेगा। स्थिति यह आ जायेगी कि साधु मौज करेगे और गृहस्थो को मत्र–तत्र आदि वतला दिया करेगे तथा गृहस्थ भी मत्र–तत्र पाने की इच्छा से ही उनकी भक्ति करेगे। फिर तो यही युक्ति चरितार्थ होगी–

लोभी गुरु लालची चेला, हिलमिल खेले दाव।
दोनो डूबे बापडे, चढ पत्थर की नाव।।

आचार की सिद्धि से ही धर्म की सिद्धि होती है, यह सर्वमान्य बात हे। अतएव समाचारी का सुनना आवश्यक हे। साधु–समाचारी शास्त्रानुमोदित होने पर श्रावक को श्रद्धाशील बनना चाहिए और यह निश्चय करना चाहिये कि यह हमारे गुरु हे। हमारे गुरु वही बनने योग्य है जो शास्त्रविहित समाचारी को हमारे सामने खोलकर रख देते हे आर उसी के अनुसार आचरण करते हे। तात्पर्य हे कि श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह साधु समाचारी

एव श्रावक–समाचारी का श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और वीतराग की वाणी पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखे।

'श्रावक' शब्द मे दूसरा अक्षर 'व' है। इसका अभिप्राय है – पुण्य–कर्म मे, बिना विलम्ब किये, दान दे और अपने दर्शन को दिपावे।

आज लोग प्राय अपना बडप्पन दिखलाने के लिए और अपने बाप–दादा की एव अपनी कीर्ति और प्रसिद्धि के लिए तो द्रव्य खर्च कर देते है, किन्तु जब किसी धार्मिक कार्य के लिए द्रव्य का त्याग करने का अवसर आता है तो कहने लगते है, यह मेरे अकेले का काम नही है। सब करे तो मैं भी करू। मै अकेला ही क्यो खर्च करू? इस प्रकार कहना और करना श्रावकपन का लक्षण नही है। श्रावक को उत्साहपूर्वक जिन–धर्म की महिमा बढानी चाहिए और उसके लिए आवश्यकतानुसार द्रव्य की ममता का भी त्याग करना चाहिए। यही 'व' अक्षर का अर्थ है।

'श्रावक' शब्द मे तीसरा अक्षर 'क' है। असका अभिप्राय यह है कि श्रावक पाप को काटे, अर्थात् अधर्म मे प्रवृत्ति न करे और ऐसा यत्न करे, जिससे शुभ कार्य हो सके और व्रत तथा सयम निभ सके।

'श्रावक' शब्द के तीनो अक्षरो मे समाविष्ट कर्तव्यो का पालन करने वाला सुविहित श्रावक कहलाता है, यानी तीर्थंकर की आज्ञा पालने वाला श्रावक कहलाता है। वह गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ भी इहलोक और परलोक मे सुख प्राप्त करने वाला होता है।

कहा जा सकता है कि धर्म से परलोक मे सुख मिलता हे, वह तो ठीक है, परन्तु इहलोक मे सुख मिलता है, यह केसे माना जाए?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तप–सयम आदि धर्म का आचरण शुद्ध आत्म–कल्याण की भावना से ही करना चाहिए, न तो इस लोक के सुख के लाभ से और न ही परलोक के सुख की लालसा से। फिर भी इसका अर्थ यह नही हे कि धर्म से इस लोक या परलोक मे सुख नही मिलता। ऐसा कोई नियम नही कि सुख की लालसा से धर्माचरण किया जाए तो सुख प्राप्त हो और सुख की लालसा न रखी जाए तो सुख न मिले। बल्कि सुख की लालसा रखने से धर्म का लोकोत्तर फल मारा जाता हे। जो कार्य किया जाएगा, उसका फल तो मिलने वाला हे ही, फिर उसके उत्कृष्ट फल का विघात करके साधारण फल की कामना करने से क्या लाभ हे? तात्पर्य यह हे कि धर्माचरण लौकिक सुख की कामना से प्रेरित होकर न किया जाए, फिर भी उससे लौकिक सुख प्राप्त होता है, यह सत्य है।

भगवती सूत्र मे तुगिया नगर के श्रावको का वर्णन आया है। वहा वे लोग भगवान की वन्दना करने के लिए जाने का सकल्प करते है उस समय यह कथन है–

भगवान् को की गई वन्दना हमारे लिए इस लोक मे तथा परलोक मे हितकारी, सुखकारी, क्षमा के योग्य बनाने वाली और मोक्ष देने वाली होगी तथा भव–भव मे साथ चलने वाली होगी।

इस पाठ से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक धर्म का पालन करने से लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के सुखो की प्राप्ति होती है।

2 श्रमणोपासक की व्याख्या

श्रावक के लिए 'श्रमणोपासक' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। श्रमणोपासक बनने की मर्यादा क्या है, यह बात शास्त्र मे बतलाई गई है। शास्त्र मे कहा है–

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्त उवसपज्जइ, नो से कप्पइ अज्जपभिइ अन्नउत्थिए वा, अन्न उत्थिय देवयाणि वा, अन्न उत्थिय परिग्ग हियाइ अरिहन्त चेइयाणि वा वदित्तए वा, नमसित्तए वा।

इस पाठ का ठीक–ठीक अभिप्राय समझने के लिए 'श्रमण' शब्द का अर्थ समझ लेने की आवश्यकता है। यो तो श्रमण का साधारण अर्थ साधु है, परन्तु दुनिया मे साधु कहलाने वालो के सैकडो प्रकार देखे जाते हे। प्राचीनकाल मे भी सैकडो प्रकार के साधु थे और आज भी है। अतएव 'साधु' कह देने से किसी निश्चित अर्थ का बोध नही होता। लोग गडबड और भ्रम मे पड जाते हे। अतएव शास्त्र मे श्रमण या साधु की भलीभाति पहचान भी बतला दी गई है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि पचयामिक धर्म का अर्थात् पाच महाव्रतो का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहला सकता है। वे पाच महाव्रत इस पकार है–

(1) प्राणातिपात का सर्वथा त्याग।
(2) असत्य का सर्वथा त्याग।
(3) अदत्तादान का सर्वथा त्याग।

(4) मनुष्य, देव और तिर्यंच सम्बन्धी कामभोग का सर्वथा त्याग।

(5) धर्मोपकरणो के सिवाय अन्य सब पदार्थों का त्याग।

इस प्रकार मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से पाचो पापो का त्याग करने वाला श्रमण पद का अधिकारी है। शास्त्र मे कहा है कि–

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पससासु, तहा माणावमाणओ।।

उत्तराध्ययन, अ 19

अर्थात्, भिक्षा के लाभ मे और अलाभ मे, सुख मे और दु ख मे, जीवन और मरण मे, निन्दा और प्रशसा मे तथा मान ओर अपमान मे साधु का समभाव होता है।

साधु किसी भी परिस्थिति मे समभाव का त्याग कर विषम भाव मे प्रवेश नही करता। भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करते समय उसकी जैसी आकृति होती है, वैसी ही बाहर निकलते समय भी। अर्थात् भिक्षा मिल गई तो हर्ष नही और न मिली तथा भिक्षा के बदले गाली मिली तो विषाद नही। शरीर चाहे सुख मे हो या दु ख मे हो, श्रमण अपने आनन्द मे मग्न रहता है। चिरकाल तक जीवित रहे तब भी आनन्द और मृत्यु आ जाए तब भी आनन्द। वे न जीने की इच्छा रखते है, न मृत्यु से घबराते हे। उनके लिए निन्दा और प्रशसा समान है। वे प्रशसा सुन कर हर्ष का ओर निन्दा सुनकर विषाद का अनुभव नही करते। कोई सत्कार करे तो क्या ओर तिरस्कार करे तो क्या? उनकी वृत्ति मे कुछ अन्तर नही पडता। ऐसे गुण जिसमे पाए जाए, वही श्रमण कहलाता है और श्रमण का उपासक 'श्रमणोपासक' या श्रावक कहलाता है।

'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से बना हे। इसका अर्थ हे श्रम करना। यह शब्द इस आशय को प्रकट करता हे कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही श्रम द्वारा कर सकता हे। व्यक्ति अपने सुख–दु ख ओर उत्थान–पतन के लिए स्वय ही उत्तरदायी हे। कोई भी दूसरा व्यक्ति या कोई भी शक्ति किसी दूसरे को सुखी या दु खी नही बना सकती।

प्राकृत रूप 'समण' का अर्थ 'समन' भी होता हे। 'समन' का अर्थ हे समता भाव। अर्थात् समन (समण–श्रमण वह हे, जो प्राणी मात्र को आत्मवत समझता हे)। कहा है–
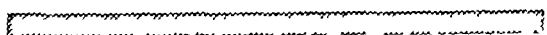
आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

अर्थात्, जो व्यवहार या बर्ताव तुम अपने लिए पसन्द नही करते हो, वही दूसरो के पति भी मत करो। जो बात तुम्हे बुरी लगती है, वह सभी प्राणियो को बुरी लगती है।

यह नीति–तत्त्व जिसके जीवन मे व्यावहारिक बन गया है, वही वास्तव मे श्रमण या समन पद का अधिकारी है। यह नीति तत्त्व ही समाज–विज्ञान का मूल आधार है। वही समाज सुख और शान्ति का भागी हो सकता है, जिसका पत्येक सदस्य इस तत्त्व का अपने जीवन मे अनुसरण करता है।

'समण' का तीसरा रूप 'शमन' भी होता है। 'शमन' का अर्थ है– अपनी चित्तवृत्तियो को शान्त करना, मन के विकारो को दबाना या दूर करना।

गभीर विचार करने से ज्ञात होगा कि व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम और शम, इन तीनो तत्त्वो पर आश्रित है। यही श्रमण–सस्कृति का निचौड है। और भी कहा है–

जह मम न पिय दुक्ख, जाणिय एमेव सव्व जीवाण।
न हणइ न हणावेइ य, सम मणइ तेण सो समणो।।1।।

अण' धातु बर्ताव करने के अर्थ मे और 'सम' उपसर्ग तुल्यार्थक है। तात्पर्य यह हुआ कि जो सब प्राणियो के प्रति सम अर्थात् समानरूप से 'अणति', अर्थात् बर्ताव करता है, वह समण या श्रमण कहलाता है।

णत्थि य से कोई वेसो, पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ।।2।।

अर्थात् श्रमण वह है जिसके लिए न तो कोई अप्रिय है और न प्रिय हे। जिसके लिए कीडी और कुजर, सब समान है।

तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणाव मणेसु।।3।।

अर्थात्, जो 'सुमन' है, वही वास्तव मे श्रमण है। 'सुमन' से अभिप्राय यह है कि वह पापमना न हो –उसके मन के किसी भी कोने मे पाप का वास न हो और स्व तथा पर–जन मे तथा मान और अपमान मे समान भाव रखता हो।

भगवान् महावीर ने श्रमण की जो परिभाषा दतलाई ह उसी से मिलती–जुलती परिभाषा तथागत बुद्ध ने भी बतलाई ह। वे कहते ह–

न वि मुडएण समणो, समयाए समणो होई।
न मुडकेन समणो, अव्वतो अलिक भण।

इच्छा लोभ समापन्नो, समणो कि भविस्सति।
यो च समेति पापानि, अणुथूलानि सव्वसो।
समित तत्ताहि पापान, समणो त्ति पवुच्चई।।

आशय यही है कि सिर मुडा लेने मात्र से कोई श्रमण नही कहलाता, बल्कि समताभाव धारण करने से ही श्रमण का पद प्राप्त किया जा सकता है। जो व्रतविहीन है, मिथ्याभाषण करता हे, कामनाओ से और लोभ से घिरा हुआ है, वह श्रमण नही कहला सकता। सच्चा श्रमण वही है, जो छोटे ओर बडे, समस्त पापो से दूर हट जाता है।

इन गुणो को समझ लेने मात्र से न कोई विशिष्ट लाभ होता है और न कोई श्रमण ही कहला सकता है। इन्हे समझकर जो आचरण मे लाता हे, वही इन गुणो का पूरा लाभ उठाता है और वही श्रमण कहलाने का अधिकारी होता हे। किसी कन्या को उसकी माता ने रसोई बनाना सिखला दिया, पर कन्या सीखी हुई रसोई बनाने की विधि को कार्यरूप मे परिणत न कर सकी तो सीखी हुई विधि किस काम की?

श्रमणोपासक श्रमण की उपासना इसलिए करता हे कि श्रमण मे समभाव है, उच्च आचार है और श्रमणोपासक इन गुणो को प्राप्त करना चाहता है। उपासक मे उपास्य का गुण आ ही जाता हे। अतएव जो समभाव चाहते होगे, वे समभाव वाले श्रमण को नमस्कार करेगे और जिन्हे धन–दोलत आदि विषमभाव की कामना होगी, वे यत्र–मत्र आदि बतलाने वाले की उपासना करेगे। लेकिन यत्र–मन्त्र बतलाने वाले की उपासना करने वाला श्रमणोपासक नही, वह तो मायोपासक है।

प्रत्येक कार्य का कुछ–न–कुछ उद्देश्य होता हे। विना उद्देश्य कोई बुद्धिमान प्रवृत्ति नही करता। घर से आप बिना उद्देश्य निकल पडे ओर इधर–उधर भटकते फिरे, किसी के पूछने पर कोई उद्देश्य न बतला सके तो वावले समझे जाएगे। इसलिए जो जिस कार्य मे प्रवृत्त होता हे, उसे कुछ–न–कुछ उद्देश्य रखना ही पडता है ओर जेसा उद्देश्य रखता हे, उसे आगे–पीछे सफलता भी प्राय मिल ही जाती हे। भाजी लाने के उद्देश्य से घर से निकला व्यक्ति भाजी तक पहुच जाता हे। इसी प्रकार अगर आप समभाव रखने वाले गुरु के पास पहुचने के उद्देश्य से निकले हें तो ऐसे गुरु को खोज ही लेगे।

आप कहेगे सत तो कचन–ककर को समान समझते हें ओर हम ऐसा नही समझते, हमे कचन की चाह वनी है। फिर सतो की उपासना क्यो करे?

ऐसा सोचने वाला और कहने वाला सच्चा श्रावक नही है। सच्चे श्रावक के अन्त करण मे श्रमणोचित समभाव की आकाक्षा रहती है और वह ऐसा मनोरथ किया करता है कि कब वह सुदिन होगा जब मै ससार के प्रपच छोडकर अनगारवृत्ति धारण करूगा। अभिप्राय यह है कि आखिर तो श्रावक भी उसी ध्येय पर पहुचना चाहता है। जिसकी यह भावना होगी कि 'मै कभी–न–कभी सोने और पत्थर को समान समझू', वह ऐसे सन्तो की उपासना करेगा।

श्रावक, व्यक्ति या वेश का उपासक नही होता, किन्तु साधुता का उपासक होता है। अतएव उसे 'श्रमणोपासक' कहा है।

कहा जा सकता है कि श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहने के बदले 'अर्हन्तोपासक' क्यो नही कह दिया? साधुओ की परीक्षा मे तो कदाचित् गडबड भी हो सकती है। यदि अर्हन्तोपासक कह दिया होता तो किसी प्रकार का झगडा ही न रहता।

इसका उत्तर यह है कि उपास्य प्रत्यक्ष हो तो ही उसकी उपासना हो सकती है। उपास्य और उपासक के मिलने पर ही उपासना सभव है। तीर्थंकर कहलाने वाले अर्हन्त चौबीस ही होते है और वे किसी काल मे विद्यमान रहते हैं और किसी काल मे विद्यमान नही रहते। मगर साधु के विषय मे यह बात नही है। श्रावक है तो साधु भी है और साधु है तो श्रावक भी है। साधु और श्रावक का साहचर्य है।

इस प्रकार अर्हन्त की साक्षात् उपासना सदा नही हो सकती, क्योकि अर्हन्त सदाकाल नही रहते और जब तक साक्षात् उपासना न की जाए तब तक ठीक–ठीक अर्थ मे वह उपासक नही है, पर श्रावक, साधु की उपासना सदैव कर सकते है। इसी कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा है। इसलिए सम्यक्तत्व ग्रहण करते समय साधु को ही गुरु बनाना पडता है।

प्रश्न होता है कि साधु और श्रावक का साहचर्य मान लिया जाय तो अढाई द्वीप के बाहर साधु नही होते, फिर वहा के तिर्यंच श्रावक क्या श्रावक नही है? इसका उत्तर यह है कि अढाई द्वीप के बाहर साधु नही होते, यह ठीक है, परन्तु जातिस्मरण ज्ञान वाले जीव होते हैं। वे पूर्वभाव–प्रज्ञापननय की अपेक्षा साधु है। इसके सिवाय जहा साधु नही होते, वहा कई व्रत श्रद्धारूप ही रहते है, स्पर्शना रूप नही होते। उदाहरण के लिए साधुओ के अभाव मे बारहवा व्रत अतिथि सविभाग कैसे निपज सकता है? इस प्रकार अढाई द्वीप के बाहर श्रद्धारूप व्रत ही होते है।

'श्रमणोपासक' शब्द भी छोटा नही है। श्रमणोपासक को भी नियम लेकर उनका पालन करना पडता है और खान–पान की ऐसी शुद्धि रखनी पडती है, जिससे घर पर आये हुए साधुओ को खाली न जाना पडे। यो तो साधु अश्रावक घर से भी आहार–पानी ले सकते है, फिर भी श्रावक को तो भोजन का विचार रखना ही चाहिए। श्रावक को मद्य, मास आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नही करना चाहिए। आज साधु भी श्रावको की खुशामद मे पड गये हैं। इस कारण श्रावको ने भी अपने नियमो का पालन करना कम कर दिया है। साधुओ मे भी मान–प्रतिष्ठा की भूख जाग उठी है। मगर शास्त्र कहता है कि साधुओ को वन्दना–नमस्कार की भी चाह नही होनी चाहिए।

श्रमणोपासक साधु मे गुण देखेगा तो वन्दना करेगा ही। सच्चा श्रमणोपासक केवल वेश की उपासना नही करता, किन्तु साधुत्व की उपासना करता है। आवश्यक निर्युक्ति मे कहा है–

कि पुच्छसि साहूण, तव च नियम च बमचेर च।

किसी साधु ने एक श्रावक से पूछा– तुम साधुओ की क्या बात देखते हो? क्या साधुओ का वेश बराबर नही है?

तब दूसरे साधु ने कहा– वह वेश नही देखता है, साधुओ के गुण देखता है। जब गुण देख लेगा, तब वन्दना करेगा।

इतना कह कर उसने श्रावक से कहा– क्यो यही बात है न? श्रावक बोला– जी हा।

साधु बोले– ठीक है। गुण देखकर वन्दना करने से कभी किसी असाधु के पजे मे नही फसोगे।

इस तरह श्रावक साधु के वेश का नही, किन्तु साधुता के गुण का उपासक होता है और इसी कारण वह श्रमणोपासक कहलाता है।

श्रमणोपासक हाथ–पैर दबाकर श्रमण की सेवा नही करता, किन्तु अतिथि सविभाग द्वारा सेवा करता है। वह इस बात का ध्यान रखेगा कि मै जिनका उपासक हू, जो मेरे लिए आधारभूत हैं, वे मेरे घर से खाली न जावे।

किसी गाव मे सब लोग रात–ही–रात मे खाने वाले हो तो क्या वहा साधु का निर्वाह हो सकता है?

नही।

सब रात मे खाते हो तो तपस्वियो को उपयोगी आहार नही मिल सकता।

3 मिथ्यात्व त्याग

श्रमणोपासक बनने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का परित्याग करना और सम्यक्त्व को धारण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को त्यागने मे और सम्यक्त्व को धारण करने मे निश्चयदृष्टि से कोई अन्तर नही है। जैसे सूर्योदय का होना और अधकार का मिटना एक ही बात है, क्योकि सूर्योदय होने पर अन्धकार मिट ही जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण (त्याग) करने पर सम्यक्त्व आ ही जाता है। फिर भी व्यवहारदृष्टि से दोनो अलग–अलग है। मिथ्यात्व का त्याग कारण कहा जा सकता है और सम्यक्त्व उसका कार्य कहा जा सकता है, अर्थात् मिथ्यात्व का त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व क्या चीज है? इसका उत्तर यह है कि न जानने का नाम मिथ्यात्व नही है, वरन् उलटा जानने और मानने का नाम मिथ्यात्व है। कहा भी है–

जीवे अजीव सन्ना, अजीवे जीव सन्ना

जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है और अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है।

जो वस्तु चैतन्य गुण से युक्त है, उसे अजीव मानना मिथ्यात्व है। लोक मे हिलने–चलने वाले प्राणियो को ही जीव माना जाता है, लेकिन शास्त्रकार पृथ्वी, जल आदि स्थावर योनि मे भी जीव मानते है।

जिस पृथ्वी मे शस्त्र परिणत हो गया हो, अर्थात् स्पर्श मे आती रहने से अथवा अन्य किसी कारण से जिसकी घात हो गई है, उस पृथ्वी को छोड कर शेष पृथ्वी सचित्त् है।

आप कहेगे कि शस्त्र लगने से अचित् हुई पृथ्वी और सचित् पृथ्वी की पहचान क्या है? उसका उत्तर यह है कि ताजा खुदी हुई पृथ्वी का वर्ण, रस, गध, आदि भिन्न प्रकार का होता है और समागम मे आकर अचित् हुई पृथ्वी का वर्ण, रस गध आदि भिन्न प्रकार का होता हे। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी मे भी अपने जैसा जीव मौजूद है।

प्रश्न हो सकता है– हम तो बोलते है, पृथ्वी के जीव क्यो नही बोलते? उत्तर मे कहा जाएगा– क्या बोलने से ही जीव रहता हे? न बोलने से जीव

नही रहता? क्लोरोफार्म सुघा देने से या किन्ही दूसरे कारणो से मनुष्यो का बोलना, देखना बन्द हो जाता है, तो क्या उस समय मनुष्यो मे जीव नहीं होता है? यदि होता है तो फिर न बोलने के कारण पृथ्वीकाय मे जीव का निषेध कैसे किया जा सकता है?

पृथ्वीकाय मे जीव होने का एक प्रमाण और लीजिए। जब आपका जन्म हुआ था, तब आपका शरीर छोटा था और घुटने की गाठ भी छोटी थी, जब आपका शरीर बडा हुआ तो घुटने की गाठ भी बडी हुई। अब आप विचार करे कि यह घुटने की गाठ चैतन्य शक्ति से बडी हुई या जड शक्ति से? 'चैतन्य शक्ति से'।

यद्यपि गाठ की हड्डी बोलती–चालती नही है और हाथ लगाने पर कडी ही मालूम होती है, फिर भी उसे चैतन्य मानना होगा या नही? 'मानना होगा'।

क्योकि हड्डी छोटी से बडी हुई है। उसमे चैतन्य शक्ति न होती तो बढती कैसे?

बबूल का पेड काला और कठोर होता है परन्तु उसका फूल पीला और कोमल होता है। यो किसी से कहा जाए की बबूल मे पीला रग भी है तो शायद ही कोई माने, लेकिन यदि बबूल मे पीला रग नही था तो उसके फूल मे पीलापन कहा से आया? इसी प्रकार कठोर पेड मे कोमलता नही थी तो फूल मे कोमलता कहा से आ गई? तो फिर मानना होगा कि बबूल मे पीलापन और कोमलता भी है, जिन्हे हम किसी प्रयोग–विशेष से ही देख सकते है, वैसे नही देख सकते। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जिस प्रकार वह फूल चेतन्यशक्ति से खिला हुआ है, उसी प्रकार यह शरीर ओर इसकी हड्डिया भी चेतन्य–शक्ति से ही बनी हुई हैं।

खदानो से पत्थर निकलता रहा है और आज भी निकल रहा है, फिर भी खदाने भर जाती हैं या नही? अगर पृथ्वी मे चेतन्य न हो तो खदानो मे पत्थर कैसे बढे? यही सब समझ कर शास्त्रकारो ने कहा हे कि पृथ्वी मे भी जीव है। उन्होने पृथ्वी मे जीव बताने के साथ ही उसके लक्षण भी वतलाये

है। यह बात दूसरी है कि उनकी कही हुई, इस सम्बन्ध की बात आपकी हमारी समझ मे न आये, परन्तु आगम को तो प्रमाण मानना ही चाहिए।

पृथ्वी की तरह पानी मे भी जीव है। कहा जा सकता है कि पानी की तरह तेल भी द्रव पदार्थ है। शास्त्र ने तेल मे जीव क्यो नही बतलाया? सिर्फ पानी मे ही जीव क्यो बतलाये है? इसका समाधान यह है कि तेल मे जीव है, इस कारण नही बतलाये है और पानी मे जीव है, इससे बतलाये है। पानी मे जीवो का अस्तित्व है, इस सत्य की साधारण परीक्षा इस प्रकार है–

जाडे के दिनो मे खूब ठड पड रही हो, आप किसी गहरे तहखाने मे सोकर उठेगे और देखेगे कि आपके मुह से भाप निकल रही है और आपका शरीर गर्म है। परन्तु गर्मी के दिनो मे आप किसी तहखाने मे सोएगे तो ठडक मालूम होगी और आपका शरीर भी ठडा रहेगा। यह क्रम तब तक रहेगा, जब तक आत्मा है।

इसी प्रकार जाडे के दिनो मे गहरे कुओ का पानी गर्म निकलता है ओर नदी तथा तलाब के जल से भी भाप निकलती हुई दिखाई देती है, लेकिन गर्मी के दिनो मे जितना अधिक गहरा कुआ होगा, उतना ही अधिक ठडा पानी निकलेगा।

जल मे जीव न होता तो ऐसा क्यो होता? जैसे शरीर मे आत्मा होने पर ही सब बाते होती हैं, वैसे ही जल मे जीव होने पर ही ये सब बाते हो सकती है।

इस प्रकार स्थावर योनि मे भी जीव है। ऐसा होते हुए भी उन्हे अजीव मानना अजीव को जीव मानना या विश्व के समस्त पदार्थो को जीव–ही–जीव मानना अथवा अजीव–ही–अजीव मानना मिथ्यात्व है।

सम्यग्दृष्टि तत्त्वो की यथार्थ श्रद्धा करता है। कहा भी है–

तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'– तत्त्वार्थसूत्र

तत्त्व नौ है, पर उन सबके मूलभूत तत्त्व दो ही है। उनका वास्तविक स्वरूप समझ कर उन पर प्रगाढ श्रद्धा रखना सम्यक्त्व कहलाता है। तत्त्वो पर श्रद्धा करना ऊर्ध्वगामी होने का मार्ग है। मिथ्यात्व इससे विपरीत नीचे गिराने वाला है।

आत्मा ऊर्ध्वगमन के मार्ग को भूला रहने से ही ससार मे भटकता है, यानी स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय होकर भी ससार मे जन्म–मरण करता है।

आपको यह तो विदित ही है कि हम चेतन हैं, परन्तु बधनो मे जकडे हुए हैं और हमारे ज्ञान पर आवरण है। इस आवरण के कारण ही हम दीवार के उस पार की वस्तु नही देख सकते, लेकिन आजकल के वैज्ञानिक साधनो से ऐसे भी यत्र बने हैं जिनकी सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु भी देखी जा सकती है। जब आत्मा पर आवरण होने पर भी यन्त्रो की सहायता से तिजोरी के भीतर की वस्तु देखी जा सकती है, तो आवरण हटने पर हम किसी प्रकार की वस्तुए न देख सकेगे? उस दशा मे मूर्त और अमूर्त, सभी प्रकार के पदार्थ देखे जा सकेगे। मतलब यह है कि जीव है और अजीव भी है। अजीव से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व न होता तो आत्मा पर आवरण आ ही नही सकता था। कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु मे मेल के बिना अपने-आप विकृति का पात्र नहीं बनती। विकार आता है पर के सयोग से ही। इस प्रकार विचार करने से जीव और अजीव, इन दो तत्त्वो का अस्तित्व प्रतीत होता है।

जीव, अजीव के ससर्ग के कारण बन्धन मे पडा है। इस कारण बध तत्त्व भी है। जब बन्ध है तो बन्ध का कारण भी होना चाहिए। बन्ध का जो कारण है, उसे जैन शास्त्र आस्रव कहते है। बन्धन है तो वह भी कभी रुकता भी है और उससे छुटकारा भी है। छुटकारा दो प्रकार का है– एक आशिक छुटकारा और दूसरा परिपूर्ण छुटकारा। इन तीनो बातो को क्रमश सवर, निर्जरा और मोक्ष कहा गया है। ससार मे सुख और दु ख का अनुभव होता है, यह सिद्ध करने की आवश्यकता नही। सुख–दु ख का अस्तित्व अनुभव सिद्ध है। जब सुख–दु ख है तो उनके कारण भी होने ही चाहिए। उनके जो कारण है, वही क्रम से पुण्य–पाप कहलाते हैं।

कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों के निमित्त से ही सुख–दुख की उत्पत्ति होती है, परन्तु यह ठीक नही है। बाह्य पदार्थ बाह्य कारण है ओर सिर्फ बाह्य कारणो से सुख–दु ख उत्पन्न हो नही सकते। जिस बाह्य पदार्थ से एक को सुख प्राप्त होता है, तो दूसरे को दु ख का अनुभव होता है। अतएव बाह्य कारणो के अतिरिक्त अतरग कारणो को मानना भी आवश्यक है। अन्तरग कारण पुण्य–पाप ही हो सकते है।

इस प्रकार तत्त्वो पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है ओर श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व है।

वेदान्त मत मे मिथ्यात्व का स्वरूप और तरह का है। उसके अनुसार जो पदार्थ नही है, उसे पदार्थ मान लेना मिथ्यात्व है। जैसे– मृग–मरीचिका मे जल न होने पर भी जल मान लेना। इसी प्रकार अन्यत्र भी पदार्थ न होने पर भी पदार्थ का अस्तित्व मान लेना मिथ्यात्व कहलाता है।

यहा यह स्मरण रखना है कि वेदान्त मे एकमात्र बह्म पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार की है। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् मे पतिभाषित होने वाले सभी पदार्थ असत् है।

मगर पश्न यह उपस्थित होता है कि मृग–मरीचिका मे जल नही है, पर अन्यत्र कही जल है या नही? अन्यत्र कही जल है, तभी तो मृग–मरीचिका मे जल का भ्रम होता है। कही भी जल न होता तो मरीचिका मे जल का भ्रम कैसे होता?

वास्तव मे ससार मे जल नामक पदार्थ है। इसी से रेत मे जल का भ्रम होता है। नदी, मलाब आदि जलाशयो मे वास्तविक जल न होता और कभी उस जल का ज्ञान न हुआ होता तो रेत मे जल का आरोप किस प्रकर किया जा सकता था? भ्रम मे वही वस्तु प्रतीत हो सकती है, तो पहले जानी हुई हो, देखी हुई हो या अनुभव मे आई हो। जिसने कभी चादी न देखी होगी, वह सीप को देखकर भ्रम से उसे चादी नही समझ सकता। इससे यह साबित होता है कि वेदान्त मत के अनुसार जगत के समस्त पदार्थों को असत् या भ्रमजनित मानना उपयुक्त नही है। यहा इस विषय मे अभी विस्तार मे जाने का अवकाश नही है। अतएव मूल बात पर फिर आ जाए।

आशय यह है कि श्रमणोपासक बनने के लिए मिथ्यात्व को त्याग कर समकित को स्वीकार करना चाहिए। और उस पर उसी प्रकार दृढ रहना चाहिए जिस प्रकार भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहे थे।

कामदेव श्रावक को देव ने समकित से विचलित करने के लिए अनेक कष्ट दिये, फिर भी विचलित न हुआ और समकित पर दृढ ही बना रहा।

देव ने कामदेव के शरीर के टुकडे–टुकडे कर दिये थे। फिर वह जीवित कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि आधुनिक डाक्टर भी कलेजे के टुकडे–टुकडे करके उन्हे जोड देते है फिर हम तो देवता के द्वारा टुकडे–टुकडे किया जाना कहते है। जब डाक्टर जोड सकता है तो क्या देव

नही जोड सकता? हा, कोई देवो का अस्तित्व ही न मानता हो तो वात दूसरी है। ऐसे लोगो के लिए यह कथा नही है।

देव ने कामदेव के टुकडे–टुकडे कर दिये, तव भी कामदेव अपनी श्रद्धा पर अटल रहा। यह कहता रहा, यह कष्ट नही है, किन्तु भगवान् के तत्त्व की, मेरे अन्त करण मे पूरी श्रद्धा हे या नही, इस तथ्य की परीक्षा हे।

जीव और अजीव अलग–अलग हैं। आत्मा अमर है, यह जान कर मरने का भी भय त्याग देने पर ही पता चलता हे कि आत्मा सम्बन्धी श्रद्धा दृढ है या नही? कामदेव को देव ने पहले ही कहा था कि हे कामदेव, तू महावीर का धर्म त्याग दे, अन्यथा मे इस खड्ग से तेरे टुकडे करता हू। देव द्वारा दिखाए हुए इस भय से यदि कामदेव भयभीत हो जाता तो वह श्रद्धा से गिर जाता। परन्तु वह जानता था कि आत्मा के खण्ड नही हो सकते।

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ।।

आत्मा तो वह है जिसे तलवार काट नही सकती, आग जला नही सकती, पानी गला नही सकता और हवा सोख नही सकती।

कामदेव कहता हे– आत्मा तलवार से कट नही सकती और तू काटने का कहता है। देखता हू, कौन हारता है! मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है और यह देह नाशवान है। मुझे किस बात का भय?

इस प्रकार की दृढता सम्यग्दृष्टि मे ही हो सकती है। मेरे कथन का यह अर्थ नही है कि आप जबरदस्ती सिह के सामने जाए अथवा साप से कटवाए। मेरा आशय यह है कि आप आत्मज्योति को भूल कर पद–पद पर भयभीत हो रहे है, इस कारण आत्मज्योति को देखो। आत्मा अमर हे, यह जानकर भी मरने का भय बना रहा तो कहना होगा कि अभी आप शब्दज्ञान–उपदेश पर भी अमल नही कर सकते और केवल भय ही भय के मारे मरते हैं।

लोग भय के कारण अधिक मरते है। भय से युक्त होने का उपाय आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्भय बनना हे। आपको व्यवहार के काम करते कोई नही रोकता, परन्तु निश्चय मे तो यही समझो कि आत्मा अविनाशी हे। लोग भूत के नाम पर ही मरते है, किन्तु वास्तव मे भूत नही, भय ही मारता हे।

पश्नव्याकरण सूत्र मे भी कहा है कि जो भयभीत होता है, वही भूत से छला जाता है। यो भूत–पिशाच योनि भी है, लेकिन मनुष्य के सामने भूत–पिशाच क्या कर सकते है? परन्तु मनुष्य मे आत्मश्रद्धा नही होती है तो कई लोग मरे हुए भूत के भय से मरते है। और कई जीवित डाकिन के डर से मरते है। आत्म श्रद्धावान् को कही कोई नही डरा सकता।

कामदेव पिशाच से नही डरा, उसने पिशाच को भी देव बना दिया। वह देव दूसरे को कष्ट देने आया था, इस कारण वह पिशाच बना हुआ था, परन्तु कामदेव ने अपने श्रद्धाबल से उस पिशाच को भी देव बना दिया। देव बन कर, उसने हाथ जोडकर कामदेव से कहा– आप धन्य है और आपके माता–पिता धन्य है।

अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व को दूर करके सम्यक्त्व को धारण करना और सम्यक्त्व को आत्मा मे इस प्रकार रमाना कि कदाचित् कोई देव भी कहे कि– तू जड है और मै तुझे काटता हू, तब भी भयभीत न हो, किन्तु हसता ही रहे। यही नही, जैसे कामदेव ने पिशाच को देव बनाया, उसी प्रकार उसे सुधार दे।

मिथ्यात्व को त्यागने वाला और सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला सबसे पहले यह प्रतिज्ञा करता है कि मै अन्य तीर्थिको द्वारा माने जाने वाले मिथ्यात्वी देव, मिथ्या धर्म और मिथ्या गुरु को देव, धर्म, गुरु नही मानूगा ओर न उन्हे नमस्कार करूगा।

तीर्थ की व्याख्या

सम्यग्दृष्टि अन्यतीर्थी देव और गुरु को मानना–पूजना त्याग देता है। यह पहले कहा जा चुका है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए तीर्थ, स्वतीर्थ और अन्यतीर्थ को समझ लेने की आवश्यकता है। शब्दशास्त्र मे 'तीर्थ' शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है–

'तीर्यते' अनेन–इति तीर्थ

जिसके सहारे तिरा जाए, वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ दो प्रकार का है– (1) द्रव्यतीर्थ और (2) भावतीर्थ। जिसके द्वारा समुद्र, नदी आदि की कठिनाई को सरलतापूर्वक पार किया जा सके, उसे द्रव्यतीर्थ कहते है। जैसे नदी पर पुल बन गया तो कीडी भी उसे पार कर सकती है, अतएव पुल तीर्थ है। उसके द्वारा पार होने वाले को भी तीर्थ कहा जाता है। यह द्रव्यतीर्थ की बात हुई।

इसी प्रकार ससार एक गहन समुद्र के समान है। इस ससार–समुद्र मे जीव डूब रहे है। जिस साधन से जीव ससार–समुद्र से पार होते है, उस साधन को और उस साधन के द्वारा पार होने वाले को भावतीर्थ कहते हे।

अब यह सोचना है कि तीर्थ के स्वतीर्थ और परतीर्थ भेद क्यो किये जाते है? ससार के सभी दर्शनो को मानने वालो का यह दावा है कि हमारा दर्शन ससार से तिराने वाला है, लेकिन जिनका दर्शन यथार्थ हे, वे स्वतीर्थी है और जिनका दर्शन अयथार्थ है, वे परतीर्थी या अन्यतीर्थी हे।

स्वतीर्थ और परतीर्थ को निश्चय और व्यवहार से जाना जा सकता हे, परन्तु निश्चय से जानने का साधन हमारे–आपके पास नही हे। हम तो सिर्फ व्यवहार से ही जान सकते हैं कि अमुक चिह्न या लक्षण वाला परतीर्थ हे।

फौज के आदमी आप ही लोगो मे से होते हे, इसलिए जब तक कोई चिह्न न हो, नही कहा जा सकता कि यह आदमी फोज का हे या नही। साथ

ही फौज मे भर्ती हो जाने मात्र से ही कोई आदमी वीर नही हो जाता है, बल्कि कोई–कोई तो भर्ती न होने वाले, भर्ती होने वालो से भी अधिक वीर होते है। लेकिन व्यवहार मे फौजी वर्दी पहनने वाला वीर माना जाता है। निश्चय मे वह वीर हैया नही, यह नही कहा जा सकता। इसलिए कहा है–

लोए लिग प्पयोजण।

निश्चय मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लिग देखा जाता है और व्यवहार मे वेष देखा जाता है।

यही स्वतीर्थ और अन्यतीर्थ मे अन्तर है। जिसमे शास्त्रोक्त लिग पाया जाए, वह स्वतीर्थ है और जिसमे न पाया जाए, वह परतीर्थ है।

अब यह देखना है कि अन्यतीर्थी देव किसे कहते है? जैन सिद्धान्त मे नाम के लिए कोई आग्रह नही है। ऐसा नही कहा जा सकता कि अमुक नाम वाला देव स्वतीर्थी है और अमुक नाम वाला देव परतीर्थी है। जैन सहस्रनाम मे ससार के देवो के बहुत–से नाम आये है। इसी प्रकार विष्णुसहस्रनाम मे भी बहुत–से नाम आये है। भक्तोमरस्तोत्र के ये श्लोक तो पसिद्ध ही है–

त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसख्यमाद्यम्,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्ग केतुम।
योगीश्वर विदितयोगमनेकमेकम्,
ज्ञान स्वरूपममल प्रवदनित सन्त।।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्व शङ्करोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्ग विधेर्विणाधानात्।
व्यक्त त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।

यहा बतलाया गया है कि सन्त पुरुष परमात्मा को अनेक नामो से पुकारते है। अव्यय, विभु अचिन्त्य, ब्रह्मा ईश्वर योगीश्वर बुद्ध शकर धाता–विधाता, पुरुषोत्तम आदि, किसी भी नाम से कहो इनमे किसी पकार का विवाद नही है। हमे तो यह कहना है कि हम अदेव को देव नही मानते। अदेव वे है जिनमे अठारह दोष पाये जाते है। जिसमे अठारह दोष है उसका नाम भले ही अर्हन्त भी क्यो न रख दिया जाए हम उसे देव नही मानते। इस पकार जो देव के रूप माने जाते हो किन्तु जिनमे अठारह दोष हो व अन्यतीर्थी देव कहलाते है। यह निश्चय की बात हे– असलियत ह। व्यवहार मे तो फिर नाम का भी भेद हो गया है कि अमुक नाम वाले स्वतीर्थी देव ह और अमुक नाम वाले परतीर्थी देव हे।

मैने एक भजन देखा था उसकी प्रथम पक्ति इस प्रकार थी–

महादेव कहे सुन पार्वती, विजया मत देय गवारन को।

इस पक्ति का अर्थ दो तरह से है। साधारण लोग इसे भग के लिए समझते हैं और कहते है कि महादेव को भग प्यारी है, इसलिए यह कडी भग के लिए ही है। लोगो ने एक तुक और जोड रखी है–

गजानन को मोदक चाहिए, महादेव को भग।

भग पीने वालो ने भग का नाम विजया रखा है। अतएव वे इस कडी का अर्थ करते है– 'हे पार्वती! तू गवारो को विजया मत दे, क्योकि विजया मेरी शक्ति हैं।'

महादेव भग पीते है या नही, इस पर विवाद है। महादेव को हम भी मानते है। हमारे यहा कहा है–

त्व शकरोऽसि भुवनत्रय शकरत्वात्।

वास्तव मे 'सत्य– स्वरूप, का नाम ही शिव (महादेव) है ऐसे शिव की स्त्री 'चित्तवृत्ति' है और विजया आत्मज्ञान है। यह सत्य–स्वरूप शिव अपनी स्त्री से कहते हैं कि विजया अर्थात् आत्मज्ञान गवारो को मत दे, अन्यथा दुरुपयोग होगा।

उक्त कडी का अर्थ तो यह है, परन्तु लोग कहते है कि महादेव को भग प्रिय थी, इस कारण यह भग के सम्बन्ध मे ही कहा है। तब हमे कहना होता है कि हम ऐसे शकर को नही मानते।

इसी तरह कृष्ण के नाम पर भी लोगो ने अनेक ऊल–जलूल कल्पनाए कर रखी है और रासलीला तथा व्यभिचार का प्रचार किया है।

मतलब यह है कि अठारह दोषो से युक्त देवो को मानने वाले अन्यतीर्थी द्वारा माने हुए देव अन्यतीर्थिक देव है। सम्यग्दृष्टि ऐसे दोषयुक्त देव को नही मानता और ऐसे देव का त्यागना मिथ्यात्व का त्यागना है।

कई लोग कहते हैं कि जीव ईश्वर नही बन सकता। यदि जीव ईश्वर बनने लगे तो अनेक ईश्वर हो जावे और फिर उनमे आपस मे लडाई होने लगे। इस प्रकार की बाते व्यर्थ है, क्योकि कर्म के आवरण से मुक्त होना ही ईश्वर बनना है। कर्म आवरण से मुक्त होने के पश्चात् आत्मा जन्म नही लेता और जो जन्म लेता है, कहना चाहिए कि वह मुक्त नही हुआ है।

कई लोग कहते हैं कि जीव को मोक्ष नही होता। यदि जीव को मोक्ष होने लगे तो थोडे ही काल मे ससार सूना हो जाय। इस प्रकार की शका भी फिजूल है। मोक्ष होने पर भी ससार सूना नही हो सकता। जीवो का अन्त

आना तो दूर की बात है, पहले क्षेत्र का विचार कर देखिए। क्षेत्र अनन्त राजू है। यदि आप एक–एक करके रुपयो की कडी जमाते जाए तो आकाश तो रूकेगा, पर आकाश तो रुकेगा, पर आकाश के रुकते–रुकते क्या कभी उसका अन्त आ जाएगा? 'नही।'

क्योकि आगे पोल है। इसी प्रकार यदि नीचे के आकाश का अन्त लेना चाहे तो भी अन्त नही आएगा।

कहा जाता है– एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा कि दुनिया का केन्द्र कहा है? बीरबल ने उत्तर दिया– मै नाप कर बतला सकूगा।

दूसरे दिन बीरबल ने जगल मे जाकर एक जगह खूटा गाड दिया और बादशाह से कहा– मैने दुनिया के केन्द्र का पता लगा लिया है। उसने वह खूटा बतलाकर कहा– यही दुनिया का केन्द्र है, आप चाहे तो नाप कर देख ले।

आप कही भी खडे हो, क्या दिशा की दूरी मे कुछ फर्क पडेगा? अर्थात् आकाश का अन्त आएगा? आप हजार कोस उत्तर की ओर बढ जाएगे तब भी क्या दक्षिण दिशा की दूरी बढ जाएगी? और उत्तर दिशा समीप हो जाएगी? आप कही भी खडे होकर, किसी भी दिशा के लिए कल्पना करेगे तो मालूम होगा कि कोई भी दिशा कम या ज्यादा दूर नही है। लोक की सीमा कर भी ली जाए तो भी अलोक का मध्य कल्पित नही हो सकता। हाथीदात की चूडी को जहा से नापो, वही से उसका मध्य मालूम होगा। ज्ञानियो ने लोक–अलोक को भी इसी प्रकार का देखा है। उसका कही आदि नही, कही मध्य नही। फिर आदि–मध्य बतलावे तो कैसे बतलावे?

काल के विषय मे भी यही बात है। जिस प्रकार क्षेत्र का अन्त नही ह, उसी प्रकार काल का भी अन्त नही है। कोई नही कह सकता कि भूतकाल ज्यादा है या भविष्यकाल ज्यादा है? क्योकि दोनो ही अनन्त है। अनन्त के चक्कर का कही पार नही है।

इस प्रकार क्षेत्र अनन्त है और काल भी अनन्त है, किन्तु क्षेत्र और काल से भी जीव अनन्तगुणा अधिक है। जब क्षेत्र आर काल ही समाप्त नही होता तो जीव किस प्रकार समाप्त हो जाएगे?

कल्पना कीजिए, एक बोरा खसखस के दोनो का भरा ह आर एक बोरा नारियलो का भरा है। यदि एक नारियल के साथ एक–एक खसखस का दाना निकाला जाए तो नारियल समाप्त हो सकते हे, पर खसखस के दाने बहुत थोडे बाहर आएगे। काल नारियल के समान ह और जीव खसखस के

दानो के समान है। परन्तु जब काल रूपी नारियलो की ही समाप्ति नही है तो जीव रूपी खसखस के दानो की समाप्ति केसे होगी?

कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की भ्रमपूर्ण बातो मे नही आता। वह निर्दोष देव और उनकी वाणी पर अटल विश्वास रखता है। वह निर्दोष देव को ही वन्दन–नमस्कार करता है।

कहा जा सकता है कि वन्दन–नमस्कार तो सबको करना चाहिए, फिर सदोष अन्यतीर्थी देवो को नमस्कार करने के त्याग की क्या आवश्यकता हे? इसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी देव का नमस्कार न करना पाप से असहयोग करना है।

लोग वन्दना करने को तुच्छ–सी क्रिया समझते है और हर किसी के आगे सिर झुका देते है। अपने सिर की कद्र नही करते। लेकिन वन्दना का अर्थ समझने पर उसका महत्त्व मालूम होगा। किसी को बडा मानकर उसके सामने अपनी लघुता दिखलाते हुए, हाथ जोडकर सिर झुकाना, नमस्कार कहलाता है। नमस्कार दो प्रकार का है– लौकिक ओर लोकोत्तर। अर्थात् एक नमस्कार व्यवहार के लिए किया जाता है और दूसरा धर्म के लिए।

लोक–व्यवहार मे भी नमस्कार की कुछ निश्चित मर्यादाए हैं ओर शिष्ट जन उनका पालन करते हैं। जो बडा होता है उसी को नमस्कार किया जाता है। नमस्कार करने के पश्चात् भेदभाव या छल–कपट का बर्ताव नही किया जाता, किन्तु समर्पण का भाव दिखलाया जाता हे। इसलिए शास्त्र मे नमस्कार–पुण्य कहा गया है।

बहुत–से लोग छल रख कर नमस्कार करते हे। यानी वे बाहर से तो खूब नम्रता प्रकट करते है, लेकिन उनके हृदय मे छल भरा रहता है। ऐसा करना वास्तविक अर्थ मे नमस्कार करना नही है।

किसी को बडा मानकर अपनी लघुता प्रकट करने के लिए उसे नमस्कार किया जाता है, अर्थात् नमस्कार करना अपनी लघुता बताना हे। लघु बनने पर अभिमान नष्ट होगा ही ओर अभिमान नष्ट होने पर पुण्य होता ही है। इस प्रकार का व्यावहारिक नमस्कार लोक–व्यवहार तक ही सीमित रहता है। इससे समाज मे शाति बनी रहती हे ओर प्रेमभाव प्रकट होता हे।

यह लौकिक नमस्कार की बात हुई। लोकोत्तर नमस्कार उसी को किया जाता है, जिसमे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन ओर सम्यक्चरित्र हो। जिनमे ये गुण नही है, फिर भी जो अपने–आप को साधु कहते हे या साधु का वेष धारण करके ढोग रचते हे, उनको नमस्कार करना उनके दभ का सम्मान

करना है। किसी के द्वारा नमस्कार किये जाने पर ऐसे ढोगी यह मानेगे कि हमारा ढोग, ढोग नही है, धर्म है। फिर भी अपने धर्म–ढोग को भी धर्म के नाम पर चलाएगे। अतएव ऐसे लोगो को नमस्कार नही किया जाता।

तात्पर्य यह है कि वन्दना, नमस्कार स्वतीर्थी देव–गुरु को ही किया जाता है, अन्यतीर्थी देव–गुरु को नही। कहा जा सकता है कि हम तो लौकिक नाते से अन्यतीर्थी को नमस्कार करते हैं, पर ऐसा कहना उचित नही है। इससे लोगो को भ्रम होता है और दभ को पतिष्ठा मिलती है। इसलिए अन्यतीर्थी को वन्दना–नमस्कार करना निषेध है। ढोगी को नमस्कार करना, उसका आदर करना नही है, उसे और नीचे गिराना है।

जिसने जैन साधु का वेष धारण किया है, किन्तु जिसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र नही है, शास्त्रकार उसे 'पासत्था' कहते है। 'पासत्था' का अर्थ है, व्रतो को पास मे रखने वाला, उन्हे व्यवहार मे न लाने वाला। जैसे कपडे पास मे रखे रहे तो लज्जा की रक्षा न होगी, कपडो को पहनने पर ही लज्जा की रक्षा हो सकती है। उसी प्रकार व्रतो को पास मे रख छोडने से ही साधुता नही आती, किन्तु उनका पालन करने वाला ही साधु कहलाता है। पासत्था चारित्र का यथावत् पालन नही करता, अतएव उनको वन्दना–नमस्कार करने से धर्म की कीर्ति नही होती। यही नही, उस को वन्दना–नमस्कार करना उसकी शिथिलता को प्रोत्साहन देना है।

कहा जा सकता है कि 'पासत्था' को नमस्कार करने से निर्जरा तो होगी न? शास्त्रकारो का कथन है कि अविवेकपूर्वक नमस्कार करने से निर्जरा भी नही होती।

प्रश्न होता है कि निर्जरा न सही, मस्तक झुकाया है और नमता प्रदर्शित की है तो कुछ पुण्य होगा या नही? ज्ञानी कहते है कि ऐसे नमस्कार से पुण्य नही होगा किन्तु अज्ञान–क्रिया का फल होगा।

यदि ऐसे व्यक्ति से असहकार करोगे तो अज्ञान–क्रिया के फल से भी बचे रहोगे और सम्भव है कि वह अपना आचरण सुधार ले परन्तु नमस्कार पाकर वह अपने दुराचार को दुराचार नही समझेगा और उसका सुधार नही होगा।

इन सब कारणो से सम्यग्दृष्टि ऐसे देव और गुरु को वन्दन–नमस्कार नही करता जिनमे देव के और गुरु के वास्तविक गुण न हो। निशीथ सूत्र मे कहा है कि जो साधु पासत्था को वन्दना करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त। [illegible]

आता है। जो साधु पासत्था को पढाता है, उसके साथ ग्रामानुग्राम विचरता है और उसे आहार–पानी ला देता है, उसे भी चौमासी प्रायश्चित् आता हे।

भगवान् को पासत्थो से द्वेष नही था, जो उन्होने ऐसा कहा। भगवान् के इस विधान का रहस्य यही है कि पासत्था के साथ रहने से अच्छा साधु भी शिथिल हो सकता है। उसके साथ असहयोग न किया गया तो उसका भी सुधार न होगा और यदि असहयोग किया गया तो उसका भी सुधरना सम्भव है।

जो प्रकृतिगत बातो से ऊपर नही उठ सके हैं, अर्थात् जिनमे काम, क्रोध आदि विकार भरे पडे हैं, उनकी उपासना करना ओर भी अधकार मे पडना हे। इस विषय मे भगवान् का कथन है कि जो पुरुष महन्त अर्थात् साधु कहलाता है और फिर भी स्त्री की उपासना करता है, उसको नमस्कार करने वाला घोर अधकार मे समाया हुआ है।

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्ते–
स्तमोद्वार योषिता सङ्गिसङ्गम्।
महन्तस्ते क्षमाचिता प्रशान्ता।
विमन्यव सुहृद साधवो ये।।

जिनका अन्त करण क्षमा आदि सद्गुणो से विभुषित है, जो शत्रु –मित्र पर समभाव रखते है, जिनमे क्रोध नही, द्वेष नही ईर्ष्या नही हे, वे महन्त पुरुष कहलाते है। उनकी उपासना मुक्ति का द्वार है। लेकिन स्त्री के सम्पर्क मे रहने वालो की उपासना नरक का द्वार हे।

यही बात जैन शास्त्र कहते है। जिसमे अठारह दोष विद्यमान हे, उस देव कहलाने वाले को और जिनमे सम्यक्चारित्र नही है, उस गुरु को नमस्कार न करने की सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करता है।

कुदेव और कुसाधु को वन्दन–नमस्कार करने का ही निषेध नही किया गया है, किन्तु इस निषेध के साथ ओर भी निषेध वतलाया गया हे कि कुसाधु और कुदेव जब तक स्वय न बोले, तब तक सम्यग्दृष्टि उनसे आप पहले न बोले। अर्थात् वह वार्तालाप की पहल न करे। न एक वार वोले ओर न वार–बार बोले। उनको अन्न, पानी, खाद्य और स्वाद्य एक वार न देवे ओर अनेक बार भी न देवे।

प्रश्न हो सकता है कि अगर शास्त्र का यह विधान हे तो तेरापथ का यह मन्तव्य ठीक ही ठहरता हे कि अपने साधु के सिवाय दूसरे को दान देना

पाप हे। अगर ऐसा न होता तो शास्त्र मे कुदेव और कुसाधु को आहार–दान देने का निषेध क्यो किया गया?

इस पश्न का उत्तर यह है कि जिसमे देव के यथार्थ लक्षण नही पाये जाते, उसे देव समझकर और जिसमे गुरु के लक्षण नहीं है उसे गुरु समझकर अर्थात धर्म की बुद्धि से दान देना पाप है। अनुकम्पा की बुद्धि से उन्हे दान देना पाप नही है और अनुकम्पा–दान का यहा निषेध भी नही किया गया है।

भगवती सूत्र मे तुगिया के श्रावको का वर्णन करते हुए उन्हे 'अभगुयदारे' कहा गया है। अर्थात दान देने के लिए उनके द्वार सदा खुले रहते थे। अगर अपने साधु के सिवाय दूसरो को दान देने का एकान्त निषेध होता तो सदा द्वार खुले रखने की क्या आवश्यकता थी?

राजा पदेशी ने बारह व्रत अगीकार किये थे और अन्यतीर्थी देव–गुरु को आहार–पानी देने का त्याग भी किया था, फिर उसने विशाल दानशाला की स्थापना की थी। इससे भी यही निष्कर्म निकलता हे कि श्रावक केवल धर्मबुद्धि से उन्हे आहार–दान देने का त्याग करता है, अनुकम्पा–बुद्धि से देने का त्याग नही करता। अनुकम्पा–भाव से दान देने का निषेध शास्त्र मे कही नही हे।

कहा जा सकता है कि भले धर्म बुद्धि से ही दान देने का निषेध हो मगर देने का निषेध तो हे ही। इसका उत्तर यह हे कि इस पकार का निषेध तो मनुस्मृति मे भी है।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्, वैडालव्रतिकाछठान्।
हैतुकान् वकवृत्तीश्च, वाड्मात्रेणापि नार्चयेत्।।

मनुस्मृति अ4 श्लो 29

पाखण्डी दंभी निषिद्ध कर्म करने वाले, बिल्ली की सी आजीविका वाले अर्थात दूसरो का तन–धन अपहरण करने वाले शठ स्वार्थ–साधना के लिए विद्या प्राप्त करने वाले बकवृत्ति अर्थात कपट का सेवन करने वाले ब्राह्मण की पूजा वाणी से भी मत करो।

इसका आशय यही निकलता है कि ऐसे ब्राह्मण से मत बोलो। इसमे पूजा की रीति से दान देने का निषेध किया गया है किन्तु दया करने का निषेध नही किया गया है। दया करके दान देने के लिए पात्र–अपात्र का विचार नही किया जाता। पात्र–अपात्र का विचार तो धर्मबुद्धि से दान देते समय ही किया जाता है।

मनु ने आगे यहा तक कहा है कि ऐसे ब्राह्मण को दान देने वाला दाता, पत्थर की नाव के समान डूब जाता है।

तात्पर्य यह है कि जिसे सत्य और असत्य का भान हो गया है, जो यथार्थ और अयथार्थ तत्त्व का ज्ञाता हो गया है और जिसने यथार्थ तत्त्व के अनुसार ही चलने का सकल्प कर रखा है, उसे अयथार्थ तत्त्व और अयथार्थ तत्त्व का आचरण करने वालो के साथ असहकार रखना चाहिए। जिसने झूठ त्याग दिया है, वह झूठ और झूठ से असहयोग न करेगा तो उसका सत्य टिकना कठिन हो जाएगा। इसी तरह अयथार्थ तत्त्व से असहकार किये विना यथार्थ तत्त्वो का टिकना भी कठिन हो जाता है। अतएव जो मिथ्यात्व–वासना मे पडा हुआ है, फिर भी अपने–आप को साधु कहता है, उसके साथ भी असहयोग करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य हो जाता है। इसी हेतु से अन्यतीर्थी देव और गुरु को वन्दना–नमस्कार करने का, व उनके साथ वार्तालाप करने का और उन्हे धर्मभावना से दान देने का निषेध किया गया है।

आगार

अब यह देखना है कि गृहस्थी मे रहते हुए अन्यतीर्थी गुरु और अन्यतीर्थी देव से पूरी तरह असहकार किया जा सकता है या नही? ज्ञानियो का कथन है कि ससार मे अनेक प्रकार की स्थिति होती है। गृहस्थ की स्थिति बडी पेचीदा होती है। अतएव ऐसा न हो कि गृहस्थो को अपना जीवन निभाना भी कठिन हो जाए और ऐसा भी न हो कि उनके आश्रित तत्त्वो का रूप ही लुप्त हो जाए। इस समस्या पर विचार करके ज्ञानियो ने कहा है–

'अन्नत्थ राजाभिओगेण, गणाभिओगेण, बलाभिओगेण, देवाभिओगेण, गुरुनिग्गहेण, वित्तिकन्तारेण।

आवश्यक हरिभद्रीय, पु 1110

राजाभियोग[1], गणाभियोग[2], बलाभियोग[3], देवाभियोग[4], गुरुनिग्रह[5], वृत्तिकान्तर– सम्यक्त्व के ये छह आगार बतलाये गये है। इन छह कारणो से यदि अन्यतीर्थी देच–गुरु को मानना भी पडे, तो भी समकित मे दोष नही आता। इन आगारो की व्याख्यान इस प्रकार है–

1. राजाभियोग

राजा के कारण नियम को तोडना 'राजाभियोग' कहलाता है। सम्यग्दृष्टि इस बात को भलीभाति जानता है कि अन्यतीर्थी देव और अन्यतीर्थी गुरु के प्रति मेरे हृदय मे किसी प्रकार का द्वेष नही है, फिर भी उन्हे नमस्कार करना अपने समझे और माने हुए तत्त्वो को नष्ट करना है। यह समझ कर वह उनके प्रति असहकार का ही व्यवहार करता है– उन्हे आदर नही देता। मगर राजा

अन्यतीर्थी देव–गुरु को नमस्कार करता है। उसके दबाव से, आग्रह से या प्रेरणा से सम्यग्दृष्टि को भी कदाचित् उन्हे नमस्कार करना पडे तो इससे समकित का नाश नही होता।

यो तो गुणो के पीछे नमस्कार किया जाता है, परन्तु कही–कही रूढि–परम्परा से भी नमस्कार करते देखा जाता हे। कई लोग चमत्कार बतलाते हैं, इस कारण राजा भी उन्हे मानने लगते है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि इस रूढ परम्परा को पाखण्ड मे ही गिनता है, लेकिन कदाचित् राजा उसका सम्मान करने की आज्ञा दे तो उस समय सम्यग्दृष्टि क्या करे? कोई एक आदमी अपने धर्म पर दृढता दिखला कर इस राजाज्ञा का उल्लघन कर भी सकता है, लेकिन सब ऐसा नही कर सकते। अतएव किसी एक आदमी द्वारा की जाने वाली उच्च बात भी नियम रूप नही बनाई जा सकती। कदाचित् सब लोग ऐसा करने लगे तो राज्य मे अशान्ति फैलेगी और विद्रोह खडा हो जाएगा। इस कारण राजा के दबाव से कदाचित् सम्यग्दृष्टि के लिए अन्यतीर्थी को वन्दना–नमस्कार करने का अवसर आ जाए तो शास्त्रकार कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि इसे 'राजाभियोग' समझे।** अर्थात् राजा का बलात्कार या दबाव समझ कर वे नमस्कार करे। वे मन मे समझे कि यह सच्चा देव या गुरु नही है, किन्तु राजा के बलात्कार से मैं नमस्कार करता हू, धर्म की प्रेरणा से नही।'

राजा का अभियोग सम्यक्त्व के समान अन्य व्रतो मे भी हे। इस आगार से छूटने के लिए ही श्रावक की बारह प्रतिमाओ का विधान है। उनमे पहली सम्यक्त्व प्रतिमा है। इसमे शुद्ध सम्यक्त्व का पालन किया जाता हे कि श्रावक सम्यक्त्व का पालन तो पहले भी करता था, किन्तु पहले सम्यक्त्व मे आगार थे और पहली प्रतिमा धारण करने पर आगार (अपवाद) नही रहते।

2 गणाभियोग

साधारणतया 'गण' का अर्थ जाति समझा जाता हे। जाति के लोग किसी काम को करने के लिए कहे या नियम बनाए ओर वह काम धर्म से विरुद्ध हो तो सम्यग्दृष्टि क्या करे? जाति के साथ उसका सवध हे। उसे लडकी लेनी–देनी है। अगर वह जाति के नियम को नही मानता हे तो क्लेश

होगा। ऐसे अवसर पर सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मै जाति के साथ सम्बन्ध–विच्छेद कर लू, यह बात दूसरी है, परन्तु जब तक ऐसा नही कर सकता और जाति के साथ सबध रख रहा हू, तब तक जाति वालो की इच्छा के अनुसार धर्मविरुद्ध कार्य भी करना पडेगा। इस प्रकार जाति क कारण अन्यतीर्थी देव–गुरु को मानना पडे तो वह गणाभियोग है, इससे सम्यक्त्व मे अतिचार नही लगता।

गणाभियोग का एक अर्थ और भी है। अनेक राज्यो की सम्मिलित शासन–व्यवस्था को भी गण कहते है। प्राचीन समय मे नौ लिच्छवी और नौ मल्ली, ऐसे अठारह राजाओ का गण बना हुआ था। इस गण की तुलना वर्तमान राष्ट्रमण्डल के साथ की जा सकती है, यद्यपि वर्तमान का राष्ट्रमण्डल निर्बल और निष्प्राण है तथापि है वह गणतन्त्र की रूप–रेखा पर ही। गण का धर्म सबल से निर्बल की रक्षा करना है। जब कोई राज्य किसी निर्बल को सताता है तो गण अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है।

सम्यग्दृष्टि इस 'गण' का भी आगार रखता है। एक तरफ राजा एक बात कहता हो और दूसरी तरफ गण दूसरी बात कहता हो, तब ऐसी उलझन भरी स्थिति मे क्या किया जाए? साधु तो ससार–व्यवहार को त्याग चुके ह इसलिए उन पर किसी राजा या सम्राट् की भी आज्ञा नही चलती लेकिन श्रावक को ऐसे समय मे क्या करना चाहिए? शास्त्र कहता है कि सम्यग्दृष्टि के लिए राजाभियोग और गणाभियोग– दोनो का आगार है। वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल निर्णय करके बर्ताव करेगा।

3 बलाभियोग

अभियोग का अर्थ यहा हठ लिया गया है और बल का अर्थ शरीर का सामर्थ्य लिया गया है। एक बलवान् आदमी लाठी लेकर खडा हो जाए और कहने लगे हमारे गुरु को नमस्कार कर नही तो तेरी खोपडी फोड दूगा। अगर शक्ति हो और तैयारी हो तो धर्म पर दृढ रहते हुए मर जाना भी बुरा नही है परन्तु सभी से ऐसी आशा नही की जा सकती। इसीलिए बलाभियोग का विधान किया गया। सम्यग्दृष्टि ऐसे अवसर पर समझे कि न इसके गुरु

को वन्दना करने मे धर्म नही समझता ओर न अपनी इच्छा से वन्दन ही कर रहा हू, मै तो इसके वल के कारण ही अपना सिर झुका रहा हू।

4. देवाभियोग

किसी देवता के बलात्कार के कारण विवश होकर अन्यतीर्थी देव या गुरु को वन्दन–नमस्कार करना या उनका आदर–सत्कार करना देवाभियोग कहलाता है।

कई लोग कहते है कि शास्त्र मे जब देवाभियोग आया है तो भैरव–भवानी आदि की पूजा करने मे क्या हर्ज है? मै पूछता हू कि आप भैरव–भवानी को अपनी इच्छा से पूजते है या वे बलात्कार करके जबर्दस्ती करके आपसे पुजवाते हैं? यदि इस आगार का अर्थ हो कि भैरव–भवानी की ओर से जबर्दस्ती न होने पर भी, अपनी ही इच्छा से, इष्ट की सिद्धि के, प्रलोभन से उन्हे मानना–पूजना देवाभियोग है, तो राजाभियोग, गणाभियोग और बलाभियोग का भी यही अर्थ क्यो न समझा जाए? यदि कहा जाए कि राजाभियोग आदि अपवादो का सेवन तभी किया जा सकता है, जब उनकी ओर से आग्रह हो, जबर्दस्ती हो, तो देवाभियोग का भी यही अर्थ क्यो न लिया जाए?

वास्तव मे देवता को उसके बलात्कार के बिना ही मानना–पूजना देवाभियोग नही है। जो अपनी इच्छा से उसे मानते–पूजते है, वे अपने सम्यक्त्व को नष्ट करते है।

कई लोग कहते है, भैरव–भवानी को स्वप्न मे देखा, इसलिए उनकी पूजा करनी चाहिए। कई लोग उनके डर के मारे उनकी पूजा करते हे। मतलब यह है कि भैरव–भवानी आदि के नाम पर ऐसा ढोग चलता हे कि कुछ कहा नही जाता।

लासल गाव के एक श्रावक कहते थे कि उनके बेटे की वहू के शरीर मे चुडैल आया करती थी। घर के सब लोग उससे डरते थे। वही की एक नाइन ने कहा– मैं चुडैल को निकाल दूगी, पर इतना लूगी । नाइन की माग मजूर करली गई। नाइन वहू को लेकर एक बन्द कमरे मे वेठ गई ओर हाथ

मे पत्थर लेकर उससे कहने लगी– 'राड निकल, नही तो पत्थर से सिर फोड दूगी।' बस, इतना कहते ही चुडैल भाग गई।

कई बार ऐसा ही हुआ। आखिर उन्होने सोचा– देखना चाहिए कि नाइन क्या करती है? छिप कर देखा तो सब बात मालूम हुई। जब बहू के शरीर मे फिर खराबी आई तो उन्होने नाइन से कहा– अब हमे मन्त्र मालूम हो गया है। अब हम स्वय चुडैल को भगा लेगे। वे उसी प्रकार पत्थर लेकर सिर फोडने को कहते है और चुडैल भाग जाती । उन्होने समझ लिया कि चुडैल वगैरह कुछ नही है, यह तो दिल की कमजोरी है।

जरा विचार कीजिए कि शरीर मे सचमुच ही देव–देवी हो, तो उन्हे मारने वाले के हाथ क्यो नही बध जाते? वे देव भाग क्यो जाते हैं? हम यह नही कहते कि देव–योनि नही है। अर्जुनमाली के शरीर मे देव था और सचमुच देव था। मगर सुदर्शन श्रावक उसके सामने ध्यान लगाकर बैठ गया तो देव भी सुदर्शन का क्या बिगाड सका? कुछ भी नही, लेकिन आप तो अकारण ही डर के मारे देव की पूजा करने लगते है। पहले के लोग किसी आवश्यकता के समय भी देव को नही मनाया करते थे। वे तप का आश्रय लेते थे। भरत चक्रवर्ती ने देवता को मनाया या तेला किया? कृष्णजी ने देवता को मनाया था या तेला किया था? तप का आश्रय लेने से देवता आप ही आप भागे आते थे। शास्त्र मे कहा है–

देवा वि त णमसति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिसका मन निरन्तर धर्म मे लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते है। इस प्रकार देवताओ को भी दास बनाने वाला धर्म आपको प्राप्त हे। पर आप धर्म की परवाह न करके देवताओ के दास बने फिरते है? यह कितनी अद्भुत बात है?

ढोग मे फस कर कोई काम करने लगने से, जैसे भैरव भवानी को मानने लगने से, अनेक अनर्थ होते है और फिर मिथ्या परम्परा चल पडती ह। देवी–देवताओ के नाम पर आज भी जो हजारो बकरे कटते हे यह सव एसी मिथ्या परम्पराओ का ही कुपरिणाम है।

देव चार प्रकार के होते हे– असुर व्यन्तर ज्योतिष्क ओर वमानिक। सबसे निकृष्ट असुर योनि के देवता उनमे भी दस हजार चक्रवर्तियो के बराबर बल होता है। ऐसा होते हुए भी जो साधारण आदमी की पकड के भय से भाग जाता हे उसे देव मानना ओर फिर उसकी पूजा करना कस ठीक हो सकता है?

महाराष्ट्री भाषा के एक मासिक पत्र मे 'भूताचा खेल' शीर्षक एक लेख छपा था। उसमे लिखा था कि अमेरिका मे कुछ लोगो ने भूत का ढोग किया। जिसका चाहो, उसी का भूत शरीर मे आ जाए। वहुत–से लोग उनकी ठगाई मे आ गये। दो मित्रो ने इस मामले की सचाई का पता लगाने का निश्चय किया। वे दोनो शरीर मे भूत बुलाने वाले के पास गये। इनमे से एक की बहिन जीवित थी। उसने भूत बुलाने वाले से कहा– मेरी वहिन का भूत बुला दीजिये। भूत बुलाने वाले ने हो–हा किया ओर कहा– लीजिये, भूत आ गया। उसे आश्चर्य हुआ कि मेरी, बहिन तो घर मे बैठी है। उसका भूत कहा से आ गया?

दूसरे ने कहा– अच्छा नैपोलियन का भूत बुलाइये। उसने नैपोलियन का भी भूत बुला दिया।

अचानक दूसरा मित्र भूत बुलाने वाले पर छुरा लेकर झपटा। वह भागा। उसे आश्चर्य हुआ कि जो नैपोलियन का भूत है, वह छुरा लेकर दौडने से कैसे भागेगा? फिर उसने शकराचार्य का भूत लाने को कहा। उसने उसे भी बुला दिया। दूसरे मित्र के मन मे वेदान्त विषयक कुछ ऐसी शकाए थी, जिनका उत्तर वह स्वय नही जानता था। उसने शकराचार्य के भूत से वे ही प्रश्न किये, परन्तु शकराचार्य का कथित भूत कुछ भी उत्तर नही दे सका।

दोनो मित्र समझ गये कि भूत बुलाने की बात निरी मिथ्या है, इसमे सिर्फ मानसिक भावना जगाने की शक्ति हे।

मतलब यह है कि देवाभियोग का अर्थ यह नही हे कि मनुष्य अपनी विषय–वासना की पूर्ति के लिये, स्वार्थसिद्धि के लिए ढोग के चक्कर मे पड कर देवी–देवताओ के सामने अपना सिर पटकता फिरे। उसका अर्थ इतना ही हे कि जब–जब देव की तरफ से जबर्दस्ती हो ओर उस समय यदि मिथ्या देव, गुरु, धर्म को सत्कार देना पडे, तो इसका आगार हे।

5. गुरु–निग्रह

गुरु दो प्रकार के होते हें एक तो माता–पिता आदि गुरुजन हे ओर दूसरे धर्माचार्य गुरु हें। श्रावक ससार मे रहता हे। उस समय उसके माता–पिता या धर्माचार्य को कोई कष्ट हो रहा हो, जो अल्प उपाय से न

महाराष्ट्री भाषा के एक मासिक पत्र मे 'भूलाचा खेल' शीर्षक एक लेख छपा था। उसमे लिखा था कि अमेरिका मे कुछ लोगो ने भूत का ढोग किया। जिसका चाहो, उसी का भूत शरीर मे आ जाए। बहुत–से लोग उनकी ठगाई मे आ गये। दो मित्रो ने इस मामले की सचाई का पता लगाने का निश्चय किया। वे दोनो शरीर मे भूत बुलाने वाले के पास गये। इनमे से एक की बहिन जीवित थी। उसने भूत बुलाने वाले से कहा– मेरी बहिन का भूत बुला दीजिये। भूत बुलाने वाले ने हो–हा किया ओर कहा– लीजिये, भूत आ गया। उसे आश्चर्य हुआ कि मेरी, बहिन तो घर मे बेठी है। उसका भूत कहा से आ गया?

दूसरे ने कहा– अच्छा नैपोलियन का भूत बुलाइये। उसने नैपोलियन का भी भूत बुला दिया।

अचानक दूसरा मित्र भूत बुलाने वाले पर छुरा लेकर झपटा। वह भागा। उसे आश्चर्य हुआ कि जो नैपोलियन का भूत हे, वह छुरा लेकर दोडने से कैसे भागेगा? फिर उसने शकराचार्य का भूत लाने को कहा। उसने उसे भी बुला दिया। दूसरे मित्र के मन मे वेदान्त विषयक कुछ ऐसी शकाए थी, जिनका उत्तर वह स्वय नही जानता था। उसने शकराचार्य के भूत से वे ही प्रश्न किये, परन्तु शकराचार्य का कथित भूत कुछ भी उत्तर नही दे सका।

दोनो मित्र समझ गये कि भूत बुलाने की बात निरी मिथ्या है, इसमे सिर्फ मानसिक भावना जगाने की शक्ति हे।

मतलब यह है कि देवाभियोग का अर्थ यह नही है कि मनुष्य अपनी विषय–वासना की पूर्ति के लिये, स्वार्थसिद्धि के लिए ढोग के चक्कर मे पड कर देवी–देवताओ के सामने अपना सिर पटकता फिरे। उसका अर्थ इतना ही है कि जब–जब देव की तरफ से जबर्दस्ती हो और उस समय यदि मिथ्या देव, गुरु, धर्म को सत्कार देना पडे, तो इसका आगार हे।

5 गुरु–निग्रह

गुरु दो प्रकार के होते हे एक तो माता–पिता आदि गुरुजन हे ओर दूसरे धर्माचार्य गुरु हे। श्रावक ससार मे रहता हे। उस समय उसके माता–पिता या धर्माचार्य को कोई कष्ट हो रहा हो, जो अल्प उपाय से न

मिटता हो किन्तु किसी ढोंगी को वन्दना—नमस्कार करने से ही मिट सकता हो तो ऐसे समय के लिए यह आगार है। कहावत है—

पड़त पड़े बाका, गधे को कहे काका।

इस कहावत के अनुसार ढोंगी को भी हाथ जोड़ने पड़ते हैं ढोंगी की भी सेवा करनी पड़ती है। परन्तु ऐसा करने में श्रावक की नीयत उस ढोंगी की पूजा करना नहीं है न वह ढोंग को अच्छा समझता है पर गुरुजन का कष्ट मिटाने के लिए ऐसा करता है। अतएव उसका समकित दूषित नही होता।

सत्यप्रतिज्ञ राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी रानी तारा ब्राह्मण के घर दासी का काम रही थी। ब्राह्मण के जवान लड़के की नीयत बिगड गई। वह धर्म सुनाने के बहाने तारा को भ्रष्ट करना चाहता था परन्तु तारा समझ गई। उसने कहा— आप मुझे काम करने के लिए दासी बना कर लाए हैं धर्म सुनाने को नही लाए है। मै वही कथा सुनती हू जिससे मेरी दासीपन का विरुद न बिगड़े?

तारा क्या शौक से उस ब्राह्मण की सेवा करती थी? नही। किन्तु पति के सत्य को निभाने के लिए करती थी। इसी पकार श्रावक स्वेच्छा से ढोंगी की सेवा नही करता। किन्तु उस ढोंगी ने गुरु को कष्ट दे रखा है या दिला रखा है इसी कारण गुरु का कष्ट मिटाने के लिए उस श्रावक को ढोंगी का आदर करना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे श्रावक का सम्यक्त्व दूषित नही होता है।

6 वृत्तिकान्तार

कुछ लोग वृत्तिकान्तार का अर्थ समझते हैं— जगल मे दान देना। उनके अभिपाय से जगल मे दान देना मना है फिर भी यदि कष्ट मे पडकर जगल मे दान देना पडे तो इसका आगार है।

वास्तव मे 'वृत्तिकान्तार' का अर्थ यह नही है। 'वृत्ति' या वित्ति शब्द का अर्थ आजीविका होता है और आजीविका के गहनपने (कष्ट) का नाम वृत्तिकान्तार है। वृत्तिकान्तार का मतलब है आजीविका का खतरे मे पडना। आजीविका खतरे मे पड जाने के कारण अपने और अपने परिवार का जीवन

सकट मे पड जाय ओर ऐसी स्थिति मे कुगुरु या कुदेव की सेवा करनी पडे तो समकितधारी को इसका आगार है, क्योकि वह समझता हे कि हे तो यह पाखण्डी ही, परन्तु आजीविका के कष्ट से मुझे सेवा करनी पड रही हे। ऐसा समझ कर सेवा करने से दोष नही लगता। यह आगार दान देने के निषेध के लिए नही है, वल्कि आजीविका सकट के कारण अन्यतीर्थी की सेवा करने के विपय मे हे। अनुकम्पा–दान तो सर्वत्र ही विहित हे। निर्युक्त मे कहा हे–

सव्वेहि पि जिणेहि, जियदुज्जय राग दोष मोहेहि।
सत्ताणुकपणट्ठ, दाण न कहिचि पडिसिद्ध।।

अर्थात्, दुर्जय राग, द्वेष और मोह को जीतने वाले जिनेन्द्रो ने अनुकम्पा दान का कही भी निषेध नही किया है। इस विषय मे टीकाकार कहते हे–

भगवन्तस्तीर्थंकरा अपि त्रिभुवनैक नाथा प्रविव्रजिषव' सावत्सरिक मनुकम्पया प्रयच्छन्त्येव दानमिति।

अर्थात्, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भी जव दीक्षा लेने को तैयार होते हे तो अनुकम्पा से वार्षिक दान देते है। वे एक वर्ष तक अपने दान की धारा बहाते रहते है। दान देने का निषेध होता तो दीक्षा लेने को तैयार तीर्थंकर देव दान क्यो देते? अनुकम्पा दान मे पाप होता तो तीर्थंकर पाप के आचरण का आदर्श क्यो उपस्थित करते?

दया से प्रेरित होकर दान देना श्रावक का स्वाभाविक गुण है। श्रावक के हृदय मे ऐसी कोमलता होती है कि वह किसी दीन–दु खी को देख कर सहज ही द्रवित हो जाता है और उसके दु ख को दान द्वारा या अन्य उचित उपाय से दूर करने का प्रयत्न करता है। हमारे पास आने से स्वाभाविक गुण मे वृद्धि होनी चाहिए। स्वाभाविक गुण को घटाना भी कहीं धर्म हो सकता हे?

साराश यह है कि वृत्तिकान्तार आगार का आशय अटवी मे दान देना नही हे, किन्तु आजीविका का खतरे मे पड जाना ही हे।

समकित के ये छह आगार समकित की रक्षा के लिए हे। उनमे से कोई–कोई आगार व्रतो के लिए भी हे, सब नही। इन आगारो का सेवन करने मे भी सावधानी ओर विवेक रखने की आवश्यकता हे। उदाहरणार्थ राजा अगर आज्ञा दे कि राज्य की आय को वढाने के लिए सव को शराव पीना चाहिए तो क्या राजाभियोग के अनुसार इस आज्ञा को मान लेना चाहिए? नही, ऐसे प्रसग पर तो प्राण दे देना भला, पर शराव पीना भला नही। शराव न पीना उत्सर्ग धर्म हे। उत्सर्ग धर्म को राजाभियोग से भी नही जाने देना चाहिए।

सम्यक्त्व के चिह्न

आरोपित सत्ता का पर्दा उठा कर पारमार्थिक सत्ता को जानने के लिए समकित धारण करने की आवश्यकता ह। समकित का स्वरूप और उसके आगार दतलाए जा चुके हे। यहा समकित का कुछ भीतरी रूप भी बतला देने की आवश्यकता ह।

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय उपशम या क्षयोपशम से आत्मा मे उत्पन्न होने वाला अत्यन्त प्रशस्त समता रूप परिणाम सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व आत्मा का एक विशिष्ट परिणमन है, अन्तरग वस्तु है। किसी को देखकर ही यह नही जाना जा सकता है कि यह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि हे? ऐसी स्थिति मे सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि आखिर सम्यक्त्व की पहचान क्या हे? अर्थात् यह कैसे कहा जा सकता है कि समकित हुआ हे या नही?

जेसे आग न दिखती हो ओर धुआ दिखता हो तो उस धुए के देखने से ही आग का अस्तित्व जान लिया जाता है। जैसे कहा भी है 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वार्हुन' अर्थात जहा–जहा धुआ है वहा–वहा अग्नि है। इस प्रकार धुआ आग का चिह हे। इसी प्रकार प्रशम और सवेग आदि को देखकर समकित को भी जाना जा सकता है। प्रशम और सवेग आदि सम्यक्त्व के लिग है।

1 प्रशम

कषायो की मदता होना प्रशम कहलाता है। अनन्तानुबधी कषाय का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती हे और

अनन्तानुबन्ध कषाय ही सब कषायो मे तीव्रतम है। अतएव वह नहीं रहता है तो सम्यग्दृष्टि मे कषायो की वह तीव्रता भी नही रहती है। शास्त्रकार कहते है–

माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी

यह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि कपट से भरा रहता है और इस बात पर गर्व करता है कि में पाव से बाध दू तो कोई दात से भी नही खोल सकता। अर्थात् मिथ्यादृष्टि कपट करके गर्व करता है। जिसके अन्तरग मे ऐसा कपट भरा है, तो समझना चाहिए कि उससे समकित दूर है। कोरा ढोग करने से कोई सम्यग्दृष्टि नही बन सकता।

पानी जब अपनी प्रकृति मे रहता है, तब शीतलता और मीठापन उसका गुण होता है। उसमे शक्कर या नमक मिला देने पर वह अपनी प्रकृति मे नही रहेगा। इसी प्रकार चाहे मैला कपट किया जाय या उजला कपट किया जाय, यानी चाहे लोगो को मालूम होने वाला कपट करे अथवा न मालूम होने वाला, वह कपट ही है और वह समकित का विरोधी है। शुद्ध समकित तो अपनी प्रकृति मे निष्कपट रहने मे ही है।

2. संवेग

ससार बन्दीखाने के समान मालूम होना, ससार से घृणा–भाव होना और इस जन्म–मरण के रूप ससार के चक्र से बाहर निकलने की इच्छा करना सवेग कहलाता हे।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि ससार मे रह कर खाता, पीता ओर अन्य भी सासारिक कार्य करता हे, परन्तु यह अपने सासारिक जीवन मे आसक्ति नही रखता। वह इन सब झझटो से मुक्ति चाहता हे। जेसे केदी जेल मे रहता हे, जेल का ही खाता–पीता है ओर जेल का काम भी करता हे, किन्तु उसकी अन्तर की भावना जेल मे रहने की नहीं हे। वह चाहता यही हे कि कब मे इस कारागार स बाहर निकलू? कभी–कभी केदियो को मीठा भोजन भी मिल जाता हे ओर कई लोगो को तो घर की अपेक्षा भी जेल मे ज्यादा आराम रहता हे फिर भी भावना तो उनकी भी जेल से निकलने की ही होती हे। जेल का आराम भी दु खदायी जान पडता हे।

इस प्रकार ससार–चक्र से छूटने की निरन्तर भावना का बना रहना ही सवेग है। जिसके हृदय म सवेग हे, वह सासारिक पदार्थो मे आसक्त नही हो सकता। वह मानो कहता है कि मे ससार मे फसा हू, इस कारण ससार भोगता हू, मगर मेरी इच्छा ससार से निकलने की ही हे ओर वह दिन धन्य होगा, जब मै ससार को त्यागूगा। इस प्रकार की भावना जिसमे हे, उसी मे समकित है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के नष्ट हुए बिना वह भावना नही आ सकती।

भगवान ने कहा है– सवेग से अनुत्तर धर्म–श्रद्धा उत्पन्न होती ह ओर धर्म–श्रद्धा से शीघ्र ही सवेग उत्पन्न होता है, जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया ओर लोभ का क्षय करता हे, नवीन कर्म नही बाधता आर तत्कारणक मिथ्यात्व भी विशुद्धि करके सम्यग्दर्शन का आराधक बन जाता ह। दर्शन–विशुद्धि से कोई–कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता हे। कोई उस विशुद्धता से तीसरे भव को उल्लघन नही करता– दर्शन–विशुद्धि की [illegible] होने पर तीसरे भव मे सिद्धि मिलती ही हे।

सवेग शब्द के सम+वेग– इस प्रकार दो भाग होते है। [illegible] लिहाज से सम्यक प्रकार का वेग 'सवेग' कहलाता है। हाथी घोडा [illegible] मोटर वगरह सभी मे वेग होता हे, मगर वेग–वेग मे अन्तर है। कोई [illegible] मे ले जाकर गिराने वाला होता हे आर कोई अभिष्ट स्थान पर पहु[illegible]। जो वेग आत्मा को कल्याणक मार्ग पर ले जाता ह, वही वेग [illegible] है। भगवान तो कल्याण की बात ही कहते ह। भगवान [illegible] करके कहते हे– हे जगत् के जीवो! तुम लोग दुख चाहते हो या [illegible] अभिलाषा करते हो? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कौन कहेगा कि हम दु[illegible] पाना चाहते ह? सभी जीव सुख के अभिलाषी ह। तब भगवान कहते [illegible]– अगर तुम सुख चाहते हो तो आगे बढो पीछे मत हटो। [illegible] पीछे क्यो हटते हो? सवेग बढाए जाओ आर आगे [illegible]।

इस समय तुम्हारी बुद्धि का मन का तथा इन्द्रियो का [illegible]

[illegible]

मान लीजिए, एक आदमी दूसरे गाव जाने के लिए रवाना हुआ। रास्ते मे उसे दूसरा आदमी मिला। उसने पूछा– भाई, तुम कहा जाते हो? देखो, इस मार्ग मे बाघ का भय हे, इसलिए इधर से मत जाओ। ऐसा कहने वाला मनुष्य अगर विश्वसनीय होगा और जाने वाला अगर दु ख मे नही पडना चाहता होगा तो क्या वह निषिद्ध मार्ग मे आगे बढेगा? नही, ऐसा होने पर भी अगर कोई उस मार्ग पर चलता है तो उसके विषय मे यही कहा जाएगा कि वह दु ख का अभिलाषी हे, सुख का अभिलाषी नही है।

सवेग निर्भय बनने का पहला मार्ग हे। अगर अपना वेग ठीक (सम्यक) रखा जाय तो भय होने का कोई कारण नही है। सवेग मे भय का कोई स्थान नही है। सवेग मे निर्भयता है ओर जो सवेग धारण करता है, वह निर्भय बन जाता है।

सवेग किसे कहते है, यह पहले बताया जा चुका है। उसका सार इतना ही है कि मोक्ष की अभिलाषा और मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही सवेग है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला कर्म–बधन को ढीला करने की भी इच्छा रखता हे। कारागार को जो बन्धन मानता हे, वही उससे छुटकारा पाने की भी इच्छा करता है। कारागार को बधन ही न मानने वाला उससे छूटने की भी क्यो इच्छा करेगा? बल्कि वह तो उस बन्धन को ओर मजबूत करना चाहेगा। ऐसा मनुष्य कारागार के बधन से मुक्त भी नही हो सकता। इसी प्रकार इस ससार को जो बधन रूप मानता हे 'हस्त अशीरे कमदे हवा', अर्थात् मै इस लालच–रूप दुनिया की जेल मे हू, ऐसा मानता है, उसी को मोक्ष की इच्छा हो सकती हे। ससार को बधन ही न समझने वाला मोक्ष की इच्छा ही क्या करेगा?

मोक्ष की अभिलाषा मे सभी तत्वो का समावेश हो जाता हे। यद्यपि सब तत्त्वो पर अलग–अलग चर्चा की गई हे, किन्तु सब का सार 'मोक्ष की अभिलाषा होना', इतना ही हे। मोक्ष की अभिलाषा उसी के अन्त करण मे जागेगी जिसे ससार कडुआ लगेगा ओर जो ससार को बधन समझेगा।

सवेग से क्या फल मिलता हे? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा– सवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती हे।

धर्मश्रद्धा मोक्ष–प्राप्ति का एक साधन हे ओर यह साधन तभी प्राप्त होता ह जब मोक्ष की आकाक्षा उत्पन्न होती हे। जिसके हृदय मे सवेग क साथ धर्मश्रद्धा होती वह कदापि धर्म से विचलित नही हो सकता, चाहे कोई

कितना ही कष्ट क्यो न पहुचाए। ऐसे दृढधर्मियो के उदाहरण शास्त्र के पृष्ठो मे उपलब्ध होते है।

सवेग से क्या फल मिलता है? इस पश्न के उत्तर मे भगवान ने यह भी कहा है कि सवेग से धर्मश्रद्धा और धर्मश्रद्धा से सवेग उत्पन्न होता है। इस पकार सवेग और धर्मश्रद्धा– दोनो एक–दूसरे के सहारे टिके हुए है। दोनो मे अविनाभाव सबध है।

जिस पुरुष को दु खो से मुक्त होने की इच्छा होगी, वह धर्मश्रद्धा द्वारा सवेग बढाएगा और सवेग द्वारा धर्मश्रद्धा प्राप्त करेगा। ऐसा किए बिना वह रह नही सकता। जिसे कडाके की भूख लगी होगी, वह भूख की पीडा मिटाने का प्रत्येक सभव उपाय करेगा। उसे ऐसा करना किसने सिखाया? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहना होगा कि भूख के दु ख ने ही यह सिखलाया है, क्योकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कपडे किसलिए पहने जाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जाएगा कि सर्दी–गर्मी से बचने के लिए और लज्जा–निवारण के लिए ही वस्त्र पहने जाते है। घर भी सर्दी–गर्मी से बचने के लिए बनाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमे फैशन को स्थान दिया जाता है, मगर उसके बनाने का मूल उद्देश्य तो यही है। इसी प्रकार जिसे ससार दु खमय प्रतीत होगा, वह सवेग को धारण करेगा ही और इस तरह अपनी धर्मश्रद्धा को मूर्त रूप दिए बिना नही रहेगा। जहा सवेग है वहा मोक्ष की अभिलाषा और धर्मश्रद्धा भी अवश्य होती है। इस प्रकार जहा सवेग है वहा धर्मश्रद्धा है और जहा धर्मश्रद्धा हे वहा सवेग है। धर्मश्रद्धा जन्म, जरा, मरण आदि दु खो से मुक्त होने का कारण है और सवेग भी इन दु खो से मुक्त कर मोक्ष–पाप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए ही होता है। इस प्रकार धर्मश्रद्धा ओर सवेग एक–दूसरे के आधारभूत हैं– दोनो मे अविनाभाव सबध हे।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है। एक धर्मश्रद्धा ससार के लिए होती है और दूसरी सवेग के लिए। कुछ ऐसे लोग है जो अपने–आप को धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषो पर पर्दा डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोग करते हे। किन्तु भगवान के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया सवेग के लिए नही है। इस प्रकार की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाए तो भी उससे कुछ लाभ नही होगा।

3. निर्वेद

आरम्भ और परिग्रह से निवृत्त होने की इच्छा होना और सासारिक भोग–विलासो के प्रति आन्तरिक अनासक्ति का भाव विद्यमान रहना निर्वेद कहलाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर दृष्टि निर्मल हो जाती है और अनन्तानुबधी कषाय के नष्ट हो जाने से गहरी आसक्ति भी नही रह जाती है। ऐसी स्थिति मे निर्वेद का भाव स्वत अकुरित हो जाता है।

निर्वेद जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु है। बिना निर्वेद के किसी का भी काम नही चल सकता। उदाहरणार्थ, आप भोजन करने बैठे है। इतने मे आपके किसी विश्वासपात्र मित्र ने आकर कहा– 'इस भोजन मे विष है। ऐसी स्थिति मे आप वह भोजन नही करेगे। इसी प्रकार विषय–भोगो के स्वरूप का सच्चा ज्ञान हो जाने पर सभी को निर्वेद उत्पन्न होता है। मगर जिस निर्वेद के साथ सवेग होता है, उस निर्वेद की शक्ति तो गजब की होती है। ज्ञानीजनो मे सवेग के साथ ही निर्वेद होता है। जैसे आप विपमय भोजन का त्याग कर देते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ससार के विषयसुख को विष मानते है और इसी कारण उन्हे सासारिक सुखो पर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है।

सच्चा निर्वेद या वैराग्य तभी समझना चाहिए जब विपयो के प्रति विरक्ति हो जाय और अन्त करण मे तनिक भी विषयो की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना हे।

किसी भी प्राणी को कष्ट देना आरम्भ है और पर–पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह हे। आरम्भ ओर परिग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती हे जव विषय– भोगो से मन निवृत्त हो जाय। आरम्भ–परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग को स्वीकार करके भव–भ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का परम्परा–फल मोक्ष हे और वह तात्कालिक फल–विषय भोग से निवृत्त होना हे।

शास्त्र कहता हे कि आरम्भ–परिग्रह ही समस्त पापो का कारण हे। अतएव आरम्भ–परिग्रह से वचने का प्रयत्न करो, उलटे उसमे फसने की चेप्टा मत करो। अगर सासारिक पदार्थों को ज्ञान की दृप्टि से देखा जाय तो उनमे फसने की अभिलापा ही न होगी। ससार के पदार्थ कामी पुरुपो के चित्त मे कामना उत्पन्न करते आर ज्ञानी पुरुपो के मन मे ज्ञान पेदा करते हैं। सम्यग्दृप्टि जीव आरम्भ–परिग्रह का भले ही तत्काल त्याग न कर सके,

किन्तु वह उन्हे उपादेय नही समझेगा और जो उपादेय नही समझता, उसी को सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

4 अनुकम्पा

अनुकम्पा सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। अपनी ओर से किसी भी प्राणी को भय या कष्ट न पहुचाना और दूसरे से भय या कष्ट पाते हुए जीव को उससे मुक्त करने का पयत्न करना अनुकम्पा है। अनुकम्पा धर्म की पहली सीढी है। यह पाय सर्वमान्य धर्म है। अनुकम्पा के बिना धर्म की कल्पना ही नही की जा सकती । जो सम्यग्दृष्टि पाप्त कर लेता है उसके अन्त करण मे अनुकम्पा की पुनीत भावना जाग्रत न हो, यह असम्भव है। यही कारण कि अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण बताया गया है।

यो तो अनुकम्पा का गुण न्यूनाधिक परिमाण मे प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान रहता है, किन्तु स्वार्थ के कारण हृदय मे चचलता आने पर अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। गाय किसी को, यहा तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नही देती। फिर भी कसाई के हृदय मे स्वार्थ या विषय–वासना के कारण चचलता उत्पन्न होती है तो वह निर्दयतापूर्वक गाय की हत्या करता है। विषय वासना से हृदय मे चचलता उत्पन्न होती है और चचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता है।

जब सवेग की जागृति से ससार के प्रति विरक्ति जाग उठती है और निर्वेदभाव से विषय–वासनाओ के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, तब चित्त की चचलता हट जाती है और अनुकम्पा की अमृतमयी भावना से हृदय पवित्र हो जाता है।

अनुकम्पा से जिसका हृदय पवित्र बन गया होगा, वह ऐसे वस्त्र कदापि न पहनेगा जिनकी बदौलत ससार मे बेकारी बढे। वह ऐसा भोजन कदापि न करेगा जिसके कारण दूसरो को भूख के मारे तडप–तडप कर मरना पडे। उसके प्रत्येक व्यवहार मे गरीबो की भलाई का विचार होगा। उसके हृदय मे दुखियो के प्रति सवेदना जाग्रत होगी। वह उनके सुख के लिए प्रयत्नशील होगा, उनकी सहायता करेगा। वह दूसरो के दुख को अपना ही दु ख समझेगा। दूसरो की विपत्ति को अपनी ही विपत्ति मानेगा।

कुछ लोगो ने अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य भेद करके दुखियो का दु ख दूर करने मे एकान्त पाप की कल्पना कर ली है, किन्तु यह मान्यता जैनागमो से विरुद्ध है। अनुकम्पा हृदय की एक पावन वृत्ति है और वह किसी

भी स्थिति मे सावद्य नहीं होती। शास्त्रो मे अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण प्रतिपादित करके यह सूचित कर दिया गया है कि अनुकम्पा के अभाव मे सम्यक्त्व की उत्पति ही नही हो सकती।

5. आस्तिक्य

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा परलोक, स्वर्ग, नरक तथा पुण्य और पाप को मानना आस्तिक्य कहलाता है। आत्मा यद्यपि स्वाभाव से (द्रव्य से) अजर–अमर है तथा वह पुण्य ओर पाप का उपार्जन करके स्वर्ग और नरक आदि विविध पर्यायो को भोगता है। इस प्रकार द्रव्य से नित्य होने पर भी पर्याय से वह एक भव को त्याग कर दूसरे भव को ग्रहण करता हे। यह भवान्तर पुण्य ओर पाप का अस्तित्व स्वीकार किये विना नही बन सकता, अतएव पुण्य–पाप तत्त्व भी हैं। इस प्रकार की आस्था रखना आस्तिक्य कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर आस्तिकता का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। जिसमे आस्तिकता नही है, समझना चाहिए कि उसमे सम्यक्त्व भी नही है।

आत्मा का अस्तित्व क्यो अगीकार करना चाहिए? ओर उसका अस्तित्व सिद्ध करने वाले प्रमाण क्या हें? यह लम्बी चर्चा हे। यह चर्चा यहा प्रासगिक हो सकती हे, परन्तु इतने विस्तार मे जाने का अवकाश नही हे। यहा इतना ही कह देना पर्याप्त है कि आत्मा के विषय मे प्रथम तो स्वानुभाव ही प्रमाण हे। फिर सर्वज्ञ देव का कथन भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता हे। अनुमान प्रमाण से ओर तर्क से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध की जा सकती हे। अगर आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका विधान ओर निषेध करता ही कोन? आखिर आत्मा का निषेध करने वाला भी तो आत्मा ही हे।

इस प्रकार आत्मा ओर परलोक आदि पर श्रद्धा रखना भी समकित का लक्षण है। इन्ही पाच लक्षणो से सम्यक्त्व की पहचान होती हे।

यहा यह वात विस्मरण न कर देनी चाहिए कि सम्यक्त्व देने या लेने की वस्तु नही है, वह तो आत्मा की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाला गुण हे। सम्यक्त्व लेना तो व्यवहार मात्र हे। वीतराग की वाणी पर अडिग श्रद्धा रखने आर दर्शन, मोह तथा अनन्तानुवन्धी कपाय को नप्ट करने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता हे।

सम्यक्त्व के अतिचार

प्राप्त हुए सम्यक्त्व को निर्मल रूप से कायम रखने के लिए पाच अतिचारो से बचना चाहिए। वे पाच अतिचार इस प्रकार हैं– (1) शका, (2) काक्षा, (3) विचिकित्सा, (4) पर पाखण्ड–प्रशसा और (5) पर पाखण्ड–सस्तव।

1. शंका

शका दो प्रकार की है– देशशका औरसर्व शका। किसी पदार्थ–विशेष के किसी धर्म के सम्बन्ध मे शका होना देशशका है और उस पदार्थ के अस्तित्व मे ही शका होना सर्वशका है। उदाहरणार्थ, आत्मा त्रिकाल मे असख्यात प्रदेशो वाला है। पर किसी को ऐसी शका हो कि आत्मा का अस्तित्व तो है, पर न जाने वह असख्यात प्रदेशी है या नहीं? आत्मा सर्वव्यापी है, परमाणु–मात्र है अथवा अपने प्राप्त शरीर के बराबर है? इस प्रकार की शकाए देशशकाए हैं? और क्या पता है कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? इस प्रकार की शका सर्वशका है।

आत्मा है या नही है। यही शका इन्द्रभूति गौतम गणधर को भी थी। भगवान् ने उनके बिना कहे ही उनकी शका प्रकट कर दी। इन्द्रभूति आश्चर्य मे पड गए। वे विचारने लगे – मैंने अनेक वादियो को जीता है। नास्तिक को आस्तिकवाद से और आस्तिक हो नास्तिकवाद से जीता है, लेकिन मेरे मन की बात इस तरह कोई नही जान सका।

भगवान ने इन्द्रभूति से कहा– आत्मा के विषय मे और सब वाते छोडकर तुम केवल इसी वात पर विचार करो कि आत्मा न होती तो आत्मा के विषय मे शका ही कोन करता? आत्मा है, तभी तो उसे अपने विपय मे शका होती है। फिर शका–समाधान का यह खेल ही न होता।

इन्द्रभूतिजी दुराग्रही नही थे। इसलिए भगवान् की बात मान कर उन्होने अपनी शका दूर कर दी।

इस प्रकार की शका सर्वशका हे ओर यह सम्यक्त्व को नही होने देती या उसे नष्ट कर देती हे।

शका को त्याग कर विश्वास करने और शका रख कर अविश्वास करने से क्या लाभ–हानि है? यह वताने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए–

एक सेठ ने सिद्ध पुरुष की सेवा की। सिद्ध पुरुष ने प्रसन्न होकर सेठ को एक विद्या बताकर कहा– शरद् पूर्णिमा की रात्रि मे एक झाड के नीचे भट्टी खोद कर उस पर तेल का कडाहा रखना ओर नीचे आग जलाना। फिर झाड पर सूत का सीका बाध उसमे बैठ जाना और मन्त्र का जाप करते हुए एक–एक सूत तोडने जाना। जब सूत टूट जाएगे। तब तुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाएगी ओर यदि शका करेगा तो मर जाएगा।

सेठ मालदार था। उसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने की आवश्यकता न थी। अतएव उसने सिद्ध पुरुष का वतलाया हुआ मन्त्र विधि सहित लिख रखा। सेठ मर गया। उसके लडके ने सब धन उडा दिया। एक दिन वह पिता के जमाने के कागजात देख रहा था। उसमे लिखी हुई वह विद्या उसे मिल गई। वह लडका मन्त्र साधन की सामग्री लेकर एक बाग मे गया। वहा उसने वृक्ष के नीचे तेल का कडाहा भी चढा दिया। वह सूत का सींका वाध कर झाड पर चढा भी परन्तु सीके मे बेठने के समय उसे डर मालूम हुआ। उसे शका हुई, कही मेरे वठने पर सीका टूट गया तो बेमोत मारा जाऊगा। इस भय के कारण कभी पेड पर चढता, कभी उतरता था।

उसी नगर मे एक चोर ने चोरी की। लोग जाग गये ओर चोर के पीछे दौडे। भागता हुआ चोर उसी वाग मे घुस गया। दोडने वालो ने बाग को चारो ओर से घेर लिया।

सेठ के लडके को वार–वार पेड पर चढते–उतरते देख चोर ने ऐसा करने का कारण पूछा। लडके ने उसे सब वात बतला दी। चार ने सोचा– बाप अपने बेटे को खोटी शिक्षा कभी नही दे सकता। फिर उस लडके को चोरी करके लाया हुआ रत्न का डिब्बा देकर कहा, यह विद्या मुझे साधने दो।

सेठ के लडके ने सोचा– अपने लिए तो रत्नो का डिब्बा ही काफी है। इस खतरनाक विद्या को सीखने के झमेले मे कौन पडे? आखिर उसने वह डिब्बा ले लिया। चोर विद्या साधने मे लग गया। थोडी देर मे उसने विद्या साध ली और आकाशगामिनी विद्या की सहायता से वह उड गया। रत्नो का डिब्बा लिये सेठ का लडका बाग से बाहर निकला। लोगो ने उसे 'चोर–चोर' कह कर पकड लिया। उसने बहुतेरा कहा कि मै चोर नही हू। पर उसकी बात सुनने को कोई तैयार नही था।

इसी तरह गुरुदेव ने आध्यात्मिक विद्या देकर कहा कि उस विद्या का जाप करते रहना और एक–एक तार तोडते जाना। सब तार टूट जाने पर सिद्धि पाप्त हो जाएगी। अगर इस विद्या को पाकर के भी शका–ही–शका मे रहा तो यो ही रह जाएगा और यदि शका न लाकर विद्या को साध लेगा तो परम ऊर्ध्वगामी बन जाएगा। जो गुरु की दी हुई विद्या पर विश्वास रखता है, वह उस चोर की तरह पार हो जाता है और जो उस पर अविश्वास करता है, वह फस जाता है। जो सशय रखता है, वह ससार मे भटकता फिरता है।

ससार–भ्रमण के आदि हेतु का नाम मिथ्यात्व है। शका या सशय भी एक प्रकार का मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के तीन भेद है, आभिग्रहिक मिथ्यात्व, अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व और सशय–मिथ्यात्व। झूठी जिद पकड लेना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जिद न हो, पर निर्णय भी न हो, तो अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है और तत्त्व मे शका करना साशयिक मिथ्यात्व है।

अर्हन्त के प्रवचन की और सब बाते मान करके भी तो एक बात के विषय मे भी शकायुक्त होता है, वह अपने सम्यक्त्व को दूषित करता है। जो मोक्ष की इच्छा रखता है और अपना कल्याण चाहता है उसे वीतराग वाणी पर लेश मात्र भी सन्देह न रख कर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे विचारना चाहिए कि–

तमेवसच्च णीसक, ज जिणेहि पवेइय।

जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वही सत्य है और वही असदिग्ध है। प्रश्न होता हे कि जो बात हमारी समझ मे नही आई है, उसे सर्वज्ञ–वचन पर श्रद्धा रखकर मानने के लिए कहना, क्या एक प्रकार की जबर्दस्ती है? इसके उत्तर मे हम युक्तिपूर्वक सिद्ध करेगे कि सर्वज्ञ के वचन सन्देहरहित हैं।

जो वीतराग और सर्वज्ञ है, उसके वचन सत्य ही होते है। जिनमे रचमात्र भी कषाय और अज्ञान शेष नही रहा है, वे कदापि असत्य भाषण नही कर सकते। अतएव जिन अनुभव मे आने वाले पदार्थो को भी उन्ही सर्वज्ञ के

वचन के आधार पर मानो। उनके विषय मे सन्देह मत रखो। आप किसी आदमी पर विश्वास रखते हैं ओर उसे सत्यभाषी मानते हैं, उसकी पचीस वातो मे से बीस वाते आपको जच गई, परन्तु पाच वाते नहीं जचती हें। लेकिन जव आप उसे सत्यभाषी समझते हें तो उन बीस वातो की सच्चाई के आधार पर न जचने वाली पाच वातो को भी सत्य ही मानना चाहिए। यदि आप न जचने वाली पाच वातो को सत्य नही मानते ह, तो फिर आपकी दृष्टि मे वह पुरुप सत्यभाषी नही ठहरता। इसी प्रकार वीतराग की कही हुई वाते तो आपको जचती है, परन्तु कोई वात नही जचती तो भी उस न जचने वाली वात के विषय मे सन्देह न रखकर, जिस आधार पर और वातो को ठीक मानते हो, उसी आधार पर उस ठीक न जचने वाली बात को भी ठीक मान लेना उचित है। समझना चाहिए कि 'हे आत्मन्! तू यह न समझ कि सव वातो का निर्णय मै ही करलू। मतिदौर्वल्य या क्षयोपशम की हीनता के कारण तू ऐसा करने का अधिकारी नही हे। तेरे मतिज्ञान आदि पर आवरण है, अतएव तू कुछ वातो और सव पदार्थों का निर्णय नहीं कर सकता। तू कुछ वातो का प्रत्यक्ष से निर्णय कर सकता है। इसलिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लेना पडेगा और कुछ के लिए आगम प्रमाण को ही मानना होगा। जेसे आगामी काल के विषय मे तू प्रत्यक्ष से कुछ भी नही जानता, किन्तु अनुमान से तो आगामी काल को मानता ही हे। दीवाल के पीछे कुछ है, यह वात तू अनुमान से ही मानता हे। तू छद्मस्थ हे, अभी तझे पूर्ण ज्ञान नही हे। इस कारण तू सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष नही देख सकता, फिर भी अनुमान से मानता हे। इसी प्रकार सर्वज्ञ की कही हुई सव वातो को तू साक्षात् नही देख सकता, फिर भी उन्हे सर्वज्ञोक्त होने के कारण ही मान ले।'

सशय किस प्रकार मिट सकता हे, यह बताने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया हे। वह इस प्रकार हे –

दो विद्यार्थी पढ कर घर आये, माता ने उनके लिए पेय पदार्थ तेयार किया। उनमे से एक ने विचार किया कि यद्यपि यह माता हे, फिर भी क्या मालूम इसमे विप मिला दिया हो? कई माताए अपने लडको को जहर देकर मार भी तो डालती ह। इस प्रकार सशय रख कर भी उसने वह पेय पी लिया ओर सशय के कारण ही वह मर गया।

दूसरे ने सोचा कि मा कभी जहर नही दे सकती। वह तो अपने लडके को अमृत ही देती हें। इस प्रकार अमृत की भावना रख कर उसने पीया तो उसके लिए वह अमृत रूप ही परिणत हुआ।

इस प्रकार भावना के कारण ही पहला विद्यार्थी मर गया। विष न होने पर भी विष की शका मात्र से उस पदार्थ ने विष का काम किया।

इतिहास मे प्रसिद्ध है कि कृष्णाकुमारी को पहले दूध की तरह का विष का प्याला दिया गया था। उसके मन मे किसी प्रकार का सन्देह नही था। वह दूध समझ कर उसे पी गई तो विष होते हुए भी उस पर विष का असर नही हुआ। दूसरी बार भी उसके मन मे सन्देह नही था, अतएव दूसरे विष–प्याले का भी उस पर कुछ प्रभाव न पडा। किन्तु तीसरा प्याला उसने विष समझ कर ही पीया, इससे वह मर गई। इस प्रकार सशय न होने पर जहर ने भी अमृत का काम किया और विद्यार्थी ने अमृत मे भी जहर का सदेह किया तो वह मर गया।

अमेरिका के अन्वेषक डाक्टरो ने एक मृत्युदण्ड प्राप्त कैदी मागा। उन डाक्टरो ने उस कैदी को मेज पर सुला दिया। फिर उसकी आखो पर पट्टी बाध दी। इसके बाद उन्होने गर्दन पर जरा–सा औजार लगा दिया और जहा औजार लगाया था, उसी जगह से नल के द्वारा पानी गिराया। यद्यपि वे पानी बहा रहे थे, पर कहते थे बहुत खून गिर रहा है। अब यह नही बचेगा। बस, मरने ही वाला है। इस प्रकार डाक्टरो की बात सुन कर और पानी को खून समझ कर वह कैदी मर गया। कैदी के शरीर मे से रक्त की एक भी बूद नही निकली थी, लेकिन डाक्टरो के कथन पर वह विश्वास कर रहा था, इसी कारण मर गया।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी–अपनी श्रद्धा के अनुसार फल प्राप्त होता है। अगर आप वीतराग के वचन पर प्रगाढ श्रद्धा रखेगे तो सुफल ही प्राप्त होगा।

अठारह दोष को पूर्ण रूप से जीत लेने वाले परमात्मा अरिहन्त या वीतराग कहलाते है। अठारह दोष इस प्रकार है –
(1) मिथ्यात्व (2) अज्ञान (3) क्रोध (4) मान (5) माया (6) लोभ (7) रति–विषयो के प्रति अनुराग (8) अरति–धर्म के प्रति अरुचि (9) निद्रा (10) शोक (11) असत्य (12) चौर्य (13) मात्सर्य (14) भय (15) हिसा (16) प्रेम (17) क्रीडा और (18) हास्य।

इन दोषो के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि इनमे से अधिकाश मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। अज्ञान ज्ञानावरण कर्म के ओर निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय का फल है। अतएव जिसने चारो घाति कर्मो का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसमे कोई भी दोष नही हो सकता और

जैनागमो के अनुसार अरिहन्त पद का अधिकारी वही है जिसने घाति कर्मों का क्षय कर दिया हो। इस प्रकार अरिहन्त या वीतराग देव, पूर्ण रूप से निर्दोष होने के कारण यथार्थ वक्ता है और उनके वचनो पर शका करने का कोई कारण नही।

अठारह दोषो से रहित वीतराग के वचन पर शका तो होनी ही नही चाहिए। आत्मा जब तक किसी वस्तु मे नि सन्देह नही बनता, तब तक उस वस्तु को अपना भी नही सकता। उदाहरण के लिए पति और पत्नी को ही लो। किसी पुरुष का किसी स्त्री के साथ विवाह हो चुका है। मगर पत्नी सोचती रहती है– न जाने पति मेरे साथ कैसा व्यवहार करेगा! इस प्रकार वह पति पर शका करती हुई यही सोचती रहे कि यदि मेरे साथ ऐसा–वैसा व्यवहार हुआ तो मैं इसे तलाक दे दूगी और दूसरा पति बना लूगी।

और पति भी अपनी पत्नी के प्रति सशक बना रहे। वह सोचे– कही यह भोजन मे विष मिलाकर मुझे न दे दे? तो इस प्रकार का शकामय दाम्पत्य जीवन कितने दिन निभेगा? वह ज्यादा दिन निभने वाला नही और जितने दिन निभेगा भी, वह सुख–शान्तिमय नही रहेगा। सन्देह का आधिक्य होने के कारण अमेरिका मे 95 प्रतिशत विवाह–सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते है। एक तरफ विवाह हुआ और दूसरी तरफ तलाक हुआ। भला यह भी कोई विवाह हे? मतलब यह है कि जब तक एक–दूसरे के प्रति एक दूसरे का पारस्परिक विश्वास न होगा, तब तक किसी भी दशा मे जीवन मे शान्ति नही मिल सकती। इसी से कहा हे–

सशयात्मा विनश्यति

अर्थात् सदा सन्देह मे डूबा रहने वाला नष्ट हो जाता हे।

इस प्रकार जब व्यवहार मे भी सन्देह रहने से काम नही चलता, तव धर्म मे जिस वस्तु को अच्छी समझते हे, उस पर शका रखने से काम कैसे चलेगा? सन्देह होने पर सम्यक्त्व का टिकना सम्भव नही।

कहा जा सकता है– सन्देह करने से एकान्त हानि नही, लाभ भी होता है। नीतिकार कहते हें–

न सशय मनारुह्य, नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात् सशय पर आरूढ हुए विना मनुष्य का कल्याण नही होता। भगवान् गोतम स्वामी के लिए भी कई जगह 'जाय ससए' पाट आया हे। इसका अर्थ यह हे कि उन्हे सशय उत्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति मे सशय को एकान्त विनाशक भी केसे कहा जा सकता हे?

इसका उत्तर यह है कि शका या सशय का प्रादुर्भाव दो प्रकार से होता है– श्रद्धापूर्वक और अश्रद्धापूर्वक भी। गौतम स्वामी को जो सशय हुआ था वह श्रद्धापूर्वक था। उन्हे भगवान् के वचनो मे असत्यता होने रूप सशय न था। उन्हे जो सशय हुआ था, वह इस रूप मे था कि भगवान् का वचन ऐसा है या नही? अमुक विषय मे भगवान् क्या कहते है? इस सन्देह मे अश्रद्धा नही, श्रद्धा ही गर्भित है। इस प्रकार की शका सम्यक्त्व का नाश करने वाली नही है। यह अश्रद्धा से नही, तत्त्वो या विषयो को जानने–समझने की दृष्टि से जिज्ञासा–रूप उत्पन्न होती है। इससे तत्त्व के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है और लाभ उठाया जाता है। ऐसी ही शका के लिए कहा गया है कि सशय के बिना मनुष्य का कल्याण नही होता।

दूसरे प्रकार की शका, जो अश्रद्धा से उत्पन्न होती है, मनुष्य को नाश की ओर ले जाती है। उससे कोई लाभ नही होता, हानि ही होती है। क्या धर्म और क्या व्यवहार, सभी–कुछ उस शका के कारण गडबड मे पड जाते है। किसी आदमी को रेलगाडी मे बैठ कर सफर करना है, परन्तु कभी–कभी रेलगाडी आपस मे भिड जाती है या उलट जाती है। इस बात को लेकर वह शका करने लगे तो कैसे सफर कर सकेगा? वह जिस मकान मे रहता है, उसके गिर पडने का ही जिसे रात–दिन सशय बना रहेगा तो वह कब शान्ति से रह सकेगा? इसी आशय से कहा गया है–

शकाभि सर्वमाक्रान्तमन पान च भूतले।
प्रवृत्ति कुत्र कर्तव्या, जीवितव्य कथनु वा।।

इस भूतल पर भोजन, पानी आदि सभी वस्तुए शकामय है। फिर मनुष्य कहा प्रवृत्ति करे और कैसे जीवित रहे?

वास्तव मे सन्देहशील व्यक्ति का जीवन निभ नही सकता। किसी लडकी को विवाह करना है, परन्तु उसे यह सशय बना रहे कि कही पति मर जाय और मै विधवा हो जाऊ तो? सशय की स्थिति मे विवाह कर लेने पर भी क्या वह सुखी रह सकेगी? मतलब यह है कि अश्रद्धाजन्य सशय से मनुष्य–जीवन निभ नही सकता।

यह ठीक है कि मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करे तो उसमे आने वाली अडचनो पर भी विचार कर देखे और उनके विषय मे सावधानी रखे, परन्तु सशय मे ही न पडा रहे।

श्रद्धा के बल पर ही मन्त्र आदि काम करते हें। मैने बचपन मे डूठी मन्त्र को सीखा था और पेट पर हाथ फेर कर ही डूठी ठिकाने ला देता था। थोडे

दिनो मे मेरी प्रसिद्धि हो गई। लोग मुझे बुलाने लगे। काम मे हर्ज होने लगा। मेरे गृहस्थावस्था के मामाजी ने मुझसे कहा– यह क्या धन्धा फैला रखा है? काम–काज को छोडकर वृथा जाना पडता है। मैंने सोचा– अब में विना मन्त्र पढे ही लोगो के पेट पर हाथ फेर दिया करुगा, जिससे उनकी डूठी ठिकाने न आया करेगी और मैं बुलाया जाने से वच जाउगा। मै ऐसा ही करने लगा। विना मन्त्र पढे हाथ फेरने लगा। फिर भी लोगो की डूठी ठिकाने आ जाती थी। अब विचार कीजिए कि मन्त्र न पढने पर भी डूठी के ठिकाने आ जाने का कारण, रोगी का मन्त्र पर विश्वास होने के सिवाय और क्या हो सकता है? इसके विरुद्ध अगर कोई व्यक्ति मन्त्र पर अविश्वास करता है तो उस पर मन्त्र काम नही देता। इससे सिद्ध है कि विश्वास फलदायक होता है।

अब एक नवीन प्रश्न पर विचार करे। कहा जाता है कि शास्त्र अलग–अलग है, उनके उपदेश भी अलग–अलग हैं और उनके विचार भी अलग–अलग हैं। वे परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं। ऐसी दशा मे हम किस पर विश्वास करे और किस पर न करे? उसी शास्त्र की दुहाई देकर एक–दूसरे के गले पर छुरी फेरने को कहता है और दूसरा ऐसा करने के लिए मना करता है। हम किसे सत्य माने? क्या करे?

इस प्रकार के झगडो के कारण कई लोग तो धर्म से ही विमुख हो गये हे, लेकिन ज्ञानी कहते हे कि तुम्हे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा से ही पूछो। अपने अन्तरात्मा की आवाज सुन कर आप सत्य को स्वीकार कर लेगे ओर झूठ को त्याग देगे। वैसे तो हीरा और काच समान ही दिखते है, परन्तु रगड कर देखने से दोनो की वास्तविकता की परीक्षा हो जाएगी ओर तब सशय को स्थान नही रहेगा।

परीक्षा करने के विषय मे शास्त्र कहता हे कि उन सिद्धान्तो मे तो कभी सन्देह नही करना, जिनमे तपस्या, अहिसा ओर क्षमा वतलाई हे।

ज सुच्चा पडिवज्जति, तव खति महिसिय।

इन सिद्धान्तो को तो अपनी परीक्षा की कसोटी बनाना। फिर जो वात इस कसोटी पर खरी उतरे, उसे ले लेना, जो खरी न उतरे, उसे छोड देना।

वक्ता की परीक्षा से भी वचन की परीक्षा होती हे। जो वक्ता निर्दोप है, जिसमे राग–द्वप ओर अज्ञान नही हे, उसका वचन यथार्थ ही होगा ओर जो वक्ता रागी हे, द्वेपी हे, अज्ञानी हे, उसका वचन यथार्थ ही हो, यह नही कहा जा सकता। विभिन्न शास्त्रो मे वर्णित देवो का स्वरूप समझ कर फिर

उनके वचनो का अदाज लगाना सरल हो जाता है। सच्चा देव वह है जो सर्वज्ञ और वीतराग है और उसी की वाणी कल्याणकारिणी हो सकती है।

अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो वीतराग भगवान् की वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन मे स्थान दो। भगवान् की वाणी को अपने जीवन मे ताने–बाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा। भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है। इस सम्बन्ध मे भगवान ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला है। भगवान मर्यादा–पुरुषोत्तम थे। वे मर्यादा को भग नही कर सकते थे। उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुचने पावे। ठोक–पीट कर समझाने से सामने वाले को कष्ट पहुचता है। ऐसी स्थिति मे भगवान् किसी को जबरदस्ती कैसे समझा सकते थे? भगवान् अभग अहिसा का परिपालन करते थे। किसी का दिल दुखाना भी हिसा है, इसीलिए भगवान् ने किसी पर जोर–जबरदस्ती नही की। उन्होने समुच्चय रूप मे सभी को कल्याणकारी उपदेश दिया है। जिन्होने भगवान् का उपदेश माना, उन्होने अपना कल्याण–साधन कर लिया। जिन्होने ऐसा नही किया, वे अपने कल्याण से वचित रह गये।

कई–एक चीजे श्रेष्ठ तो होती हैं, परन्तु दूसरो को कष्ट न पहुचाने के विचार से बलात् नही दी जा सकती। भगवान् की यह वाणी कल्याणकारिणी होने पर भी किसी का जबरदस्ती नही समझाई जा सकती, अतएव भगवान् ने समुच्चय रूप मे ही उपदेश दिया है।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सिद्ध–बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग वतलाया हे, उस मार्ग पर जाने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार हे। श्रद्धा का अर्थ किसी वात को नि सदेह होकर मानना है। अमुक बात ऐसी ही हे, इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई बार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है, मगर ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नही चलता। अतएव सिद्धान्त–वचनो पर हृदयपूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित् सिद्धान्त–वचनो पर प्रतीति हो जाए तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नही होता। व्यवहार मे आये बिना प्रतीति मात्र से सिद्धान्त–वाणी पूर्ण लाभप्रद नही होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्त–वाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए, अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता हे।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डाक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई, मगर प्रतीति नही। प्रतीति तब होगी जब उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण दखने से प्रतीति उत्पन्न होती हे। डाक्टर निस्पृह और अनुभवी है, इसी विचार से दवा पर श्रद्धा तो उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तब होती है जब उसी दवा से दूसरे का रोग मिट गया है, यह जान लिया गया। मान लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई, तो ऐसी दशा मे रोग कैसे नष्ट होगा? रोग का नाश करने वाली दवा रुचि रखकर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता हैं। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाए, नियमोपनियम का पालन किया जाए, और अपथ्य सेवन न किया जाए, तब ही दवा से लाभ होगा। ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशसा की जाए तथा दवा सेवन करने मे किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूढ कर अपनी भूल सुधार ली जाए तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता हे, अन्यथा रोग से बचने का ओर क्या उपाय हे?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हे, जिन्होने साढे बारह वर्ष तक मोन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी ओर उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था ओर जगत् जीवो को जन्म–जरा–मरण आदि भवरोगो से मुक्त करने के लिए अहिसादि रूप अमोघ दवा की खोज की थी। उन महावेद्य महावीर भगवान् ने जन्म–जरा–मरण आदि रोगो से पीडित जगत्–जीवो को रोगमुक्त करने के लिए यह प्रवचन रूपी अमोघ ओपध का आविष्कार किया हे। सबसे पहले इस ओपध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जाएगा? भगवान की सिद्धान्त–वाणी को सभी लोग विवेक की कसोटी पर नहीं कस सकते। सब लोग नही समझ सकते कि भगवान् की वाणी क्या क्या माहात्म्य हे? अतएव साधारण जनता क लिये एकमात्र लाभप्रद बात यही ह कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करे। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी तब तक लाभ भी नहीं हो सकता। इस कारण श्रद्धा का सब स अधिक महत्त्व दिया गया ह गीता म भी कहा हे–

श्रद्धामयोऽय पुरुषो,यो यच्छ्रद्ध स एव स ।

अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है– श्रद्धा का ही पुज है और जो जैसी श्रद्धा करता है वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार से भी सिद्ध होती है। दर्जी के काम की श्रद्धा रखने वाला दर्जी बन जाता है और जो लुहार के काम करने की श्रद्धा रखता है वह लुहार बन जाता है। साधारण रूप से सिलाई का काम तो सभी कर लेते है, परन्तु इस प्रकार का काम करने से कोई दर्जी नही बन जाता और न कोई अपने–आप को दर्जी मानता ही है। इसका कारण यह कि सिलाई का काम करते हुए भी हृदय मे उस काम की श्रद्धा नही है, अर्थात् वह काम श्रद्धानपूर्वक नही किया जाता। अगर वही सीने का काम श्रद्धापूर्वक किया जाए तो दर्जी बन जाने मे कोई सन्देह नही किया जा सकता।

कहने का आशय यह है कि सर्वपथम भगवान् रूपी महावैद्य की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। सिद्धान्त–वाणी के विरुद्ध विचार नही होना चाहिए और साथ ही वाणी के ऊपर प्रतीति – विश्वास होना चाहिए। इस सिद्धान्त–वाणी के प्रभाव से पापियो का भी कल्याण हो सकता है, ऐसा विश्वास दृढ होना चाहिए। भगवद्वाणी के अमोघ प्रभाव से अर्जुन माली और चडकौशिक साप आदि पापी जीवो के कर्म–रोगो का नाश हुआ है। भगवान् की वाणी पर प्रतीति–विश्वास करने के बाद रुचि भी होनी चाहिए। कोई कह सकता है कि भगवान् की वाणी द्वारा अनेक पापी जीवो के पापो का क्षय हुआ है, यह तो ठीक है, किन्तु उस वाणी पर रुचि लाना, अर्थात् उसे जीवन–व्यवहार मे उतारना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यदि भगवान् की वाणी पर रुचि उत्पन्न मे नही हो तो समझना चाहिए कि अभी तक श्रद्धा और विश्वास मे न्यूनता है। जो रोगी भय के कारण औषध का सेवन ही नही करता है उसका रोग किस प्रकार मिट सकता है? सासारिक जीव भगवान् की वाणी को जीवन–व्यवहार मे न लाने के कारण ही कष्ट भोग रहे है। यो तो अनादिकाल से ही जीव उन्मार्ग पर चलकर दु ख भुगतते रहे है, मगर उनसे कहा जाए कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन कर लो तो सदा के लिये दु ख से छूट जाओगे, तो वे ऐसा करने को तैयार नही होते और इसी कारण वाणी रूपी औषध की विद्यमानता मे भी वे कर्म–रोगो से पीडित हो रहे हैं।

भगवान् की वाणी रुपी दवा पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करने के अनन्तर उसकी स्पर्शना भी करनी चाहिए, अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्त, वाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने मे ही उनका उपयोग करना चाहिए। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार

भगवद्वाणी को जितने अश मे स्वीकार किया हो तो उतने अश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढते हुए भगवद्वाणी के पार पहुचना चाहिए।

आज बहुत–से लोग आरम्भशूर दिखाई देते हे। लोग किसी कार्य को प्रारम्भ तो कर देते हैं, किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोड बैठते हैं। ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नही कर सकते। महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ मे लेते ही नही, और जिस काम मे हाथ डालते है, उसे भयकर–से–भयकर कष्ट आने पर भी अधूरा नही छोडते।

इस प्रकार सिद्धान्त वाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारगत होना चाहिए और फिर 'यह वाणी जैसी कही जाती है वैसी ही है। मे इस वाणी का पालन करके पार नही पहुच सकता था, किन्तु भगवान् की कृपा से पार पहुचा हू'– इस प्रकार कहकर भगवद्वाणी का सकीर्तन करना चाहिए। भगवद्वाणी को आचरण मे उतारते किसी प्रकार का दोष हुआ हो तो उसका सशोधन करना चाहिए, किन्तु दूसरे पर दोषारोपण नही करना चाहिए। तत्पश्चात् 'आज्ञा गुरुणा खलु धारणीया'– इस कथन के अनुसार गुरुओ की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर भगवान् की वाणी का आज्ञानुसार पालन करना चाहिए।

अपनी बौद्धिक दृष्टि से देखने पर इस शास्त्र के कोई–कोई वचन समझ मे न आवे, यह सम्भव हे, परन्तु शास्त्र के वचन अभ्रान्त हे। इसलिए इन सिद्धान्त–वचनो पर दृढविश्वास रखकर उनका पालन किया जाए ता अवश्य ही कल्याण होगा। कहा जा सकता हे कि हमारे पीछे दुनियादारी की अनेक झझटे लगी हें ओर इस स्थिति मे भगवान के इन वचनो का पालन किस प्रकार किया जाए? ऐसा कहने वालो को सोचना चाहिए कि भगवान् क्या उन झझटो को नही जानते थे? इस पचमकाल को ओर इसमे उत्पन्न होने वाले दु खो को भगवान् भली–भाति जानते थे ओर इसी कारण उन्होने दु ख से मुक्त होने के उपाय बतलाये हे। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम म नहीं लाता ओर सिद्धान्त–वचनो पर श्रद्धा नहीं करता तो वह दु खो से किस प्रकार मुक्त हो सकता हे?

हम लोग कई वार सुनते ह कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषो ने विविध प्रकार क कष्ट सहन किये ह, परन्तु वे महापुरुप कभी ऐसा विचार तक नही करते कि सत्य क कारण ये कष्ट सहने पडते ह तो हमे सत्य का त्याग कर दना चाहिए। महापुरुपा का यह आदर्श अपने समक्ष

होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करे तो यह हमारी कितनी बडी अपूर्णता कहलाएगी? अतएव भगवान् की वाणी को अभ्रान्त समझकर उस पर श्रद्धा, पतीति तथा रुचि करो और विचार करो कि भगवान् का हमारे ऊपर कितना करुणाभाव है कि उन्होने हमारे कल्याण के लिए ये वचन कहे है? भगवान् अपना कल्याण तो बोले बिना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए उन्होने यह सिद्धान्त–वाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर विश्वास करना ही चाहिए।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है, मगर ससार मे चमत्कार के बिना नमस्कार नही देखा जाता। अतएव हमे कोई चमत्कार दिखाई देना चाहिए। इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि शास्त्रीय चमत्कार बतलाया जाए तो उपदेश ही है और अगर व्यावहारिक चमत्कार बतलाया जाए तो वह भी तभी माना जाएगा जब कि वह बुद्धि मे उतर सके। अगर बुद्धि मे न उतरा, तो वह भी अमान्य ही ठहरेगा। यह बुद्धिवाद का जमाना है। यह जमाना विचित्र है। जो लोग शास्त्र सुनने आते हैं उनमे से भी कुछ लोग ही सचमुच शास्त्र सुनने आते हैं और कुछ लोग यह सोचकर आते हैं कि वहा जाने से हमारे अवगुण दब जाएगे और हमारी गणना धर्मात्माओ मे होने लगेगी। यह बात इस खोटे जमाने से ही नही, वरन् भगवान् महावीर के समय से ही चली आ रही है। भगवान् के समवसरण मे आने वाले देवो मे भी कितनेक देव भगवान् के दर्शन करने आते थे और कितने ही देव दूसरे अभिप्राय से आया करते थे। दूसरे अभिप्राय से आने वाले देवो मे कुछ देव तो इसलिए आते थे कि भगवान् के पास जाकर अपनी शकाओ का समाधान कर लेगे, कुछ देव अपने मित्रो का साथ देने के लिए आते थे और कुछ देव भगवान् के पास जाना अपना जिताचार–आचार–परम्परा समझकर आते थे। इस प्रकार भगवान् के समय मे भी ऐसी घटनाए हुआ करती थी।

यह हुई परोक्ष की बात। प्रत्यक्ष मे भी व्याख्यान मे आने वाले लोग भिन्न–भिन्न विचार लेकर आते हैं। लोग किसी भी विचार से क्यो न आवे, अगर भगवान् की वाणी का एक भी शब्द उनके हृदय का स्पर्श करेगा तो उनका कल्याण ही होगा। भगवान् की वाणी का चमत्कार ही ऐसा है, पर विचारणीय तो यही है कि जब आए ही हो तो फिर शुद्ध भाव ही क्यो नही रखते? अगर शुद्ध भाव रखोगे तो तुम्हारा आना शुद्ध खाते मे लिखा जाएगा? कदाचित् शुद्ध भाव न रखो तो तुम्हारा आना अशुद्ध खाते मे लिखा जाएगा।

तो फिर यहा आकर अशुद्ध खाते मे अपना नाम क्यो लिखाना चाहते हो? इसके अतिरिक्त भगवान् की वाणी सुनकर हृदय मे धारण न की गई तो भगवान् की वाणी की आसातना ही होगी। अतएव भगवान् की वाणी हृदय मे धारण करो और विचार करो कि मनुष्य अपना सुख आप नही देख सकता, इस कारण उसे आदर्श-दर्पण की सहायता लेनी पडती है। भगवान की वाणी दर्पण के समान है। मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर उसे धो सकता है। उसी प्रकार भगवान् की वाणी के दर्पण मे अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हे धो डालो। भगवान् की वाणी का यही चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है। अगर तुम अवगुण दूर करके गुण-ग्रहण की विवेक-बुद्धि रखोगे तो भगवान् की वाणी का चमत्कार तुम्हे अवश्य दिखाई देगा। इसलिए भगवान् की वाणी पर दृढविश्वास रखकर उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

शास्त्र मे कही-कही इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है, जैसे भगवान् से प्रश्न किये गये हो और भगवान् ने उनका उत्तर दिया हो, और कही-कही ऐसा है कि भगवान् स्वय ही फरमा रहे हो। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि भगवान् ने जो बात अपने ज्ञान मे देखी है वही बात कही है और यह बात उन्होने कभी-कभी बिना पूछे भी कही है। मगर जो बात उन्होने अपने ज्ञान मे नही देखी, वह पूछने पर भी नही कही।

इस प्रकार जिन-भगवान् की वाणी पर अखण्ड श्रद्धा रखना उचित है। श्रद्धा न रखने से शका नामक सम्यक्त्व का दोप होता हे।

2 कांक्षा

चाह, अभिलाषा या कामना को काक्षा कहते हैं। अभिलाषा अच्छी भी हो सकती हे ओर बुरी भी हो सकती हे, परन्तु यहा उस बुरी अभिलाषा का जिक्र हे, जो सम्यक्त्व को मलीन बनाती हे। शका की ही भाति काक्षा दो प्रकार की होती हे। एक देशकाक्षा ओर सर्वदेशकाक्षा। 'वोद्ध दर्शन अच्छा हे, उसे क्यो न स्वीकार कर लिया जाए – इस प्रकार की काक्षा सर्वदेशकाक्षा ह आर किसी अन्य दर्शन की किसी अश म काक्षा होना देशकाक्षा हे।

इस प्रकार की काक्षा करने वाले यह नही देखते कि हम दूसरे दर्शन की काक्षा करते हैं, परन्तु हमारे दर्शन मे क्या बुराई है? अगर कोई बुराई नही है तो फिर दूसरे दर्शन की चाह करना कैसे उचित कहा जा सकता है? कभी किसी और कभी किसी दर्शन की इच्छा करते रहने से जीवन व्यवस्थित नही हो सकता। जो मनुष्य कभी एक मार्ग पर चलना आरम्भ करता है और फिर उसे छोडकर दूसरे मार्ग पर चलने लगता है और फिर उसका भी त्याग करके तीसरी राह पकड लेता है, वह अपनी मजिल तक कैसे पहुच सकता है? हा, जिसने आरम्भ मे गलत रास्ता अख्तियार कर लिया है, वह उसे छोडकर सही रास्ते पर आ जाए, यह तो उचित है, पर सही रास्ते पर चलते–चलते, मन मे तरग उठी और रास्ता बदल लिया तो अपने लक्ष्य से दूर पड जाना होगा। इस प्रकार मन की क्षणिक तरगो पर नाचना विवेकवान् का कर्तव्य नही है।

जिसने एक पुरुष को पति के रूप मे स्वीकार कर लिया है, वह उसे छोडकर अगर दूसरे को पति बना ले, तो आप उसके कार्य को योग्य समझेगे? महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने कर्ण को देखकर यह इच्छा की थी कि यदि कर्ण का जन्म कुन्ती के पेट से हुआ होता तो मैं इन्हे भी अपना छठा पति बना लेती। इस काक्षा के कारण वह अपने सतीत्व से गिर गई। तब श्रीकृष्ण ने उसे प्रायश्चित्त कराया। यह बात नही थी कि कर्ण मे गुण नही थे, परन्तु सती के लिए इस प्रकार की काक्षा करना उसके सतीत्व के लिए दूषण है।

कहा जा सकता है कि चित्त को शुद्ध करना ही धर्म का सार है और बौद्ध दर्शन आदि मे भी चित्त की शुद्धि का मार्ग बतलाया है। ऐसी स्थिति मे बौद्ध दर्शन को माने तो क्या? और जैन दर्शन को माने तो क्या? शास्त्रकार इस कथन के उत्तर मे कहते हैं– बौद्ध दर्शन या किसी अन्य दर्शन मे चित्तशुद्धि का मार्ग बतलाया है, वह तो अच्छी बात है, परन्तु तू यह देख कि जैन दर्शन मे चित्त की शुद्धि का मार्ग बतलाया गया है या नही? इसके सिवाय, यह देख कि जैन दर्शन मे चित्तशुद्धि का उत्कृष्ट मार्ग बतलाया गया है या निकृष्ट? अगर जैन दर्शन मे चित्तशुद्धि का श्रेष्ठ मार्ग प्रतिपादित किया गया है तो क्या कारण है कि तू अन्य दर्शन की आकाक्षा करता है? आज निष्कारण ही अगर दूसरे दर्शन की आकाक्षा करता है तो कल तीसरे दर्शन की आकाक्षा करने लगेगा और तेरा जीवन अस्त–व्यस्त हो जाएगा।

हमे किसी अन्य दर्शन से घृणा नही है, फिर भी हम यह पूछते हैं कि जैन दर्शन मे क्या अपूर्णता है, जिससे अन्य दर्शन की आकाक्षा की जाए? तुझे अल्पबुद्धि के कारण अगर अपूर्णता दिखती है तो किसी ज्ञानी से समझ।

वस्तुत काक्षा होने का कारण इहलोक और परलोक सम्बन्धी चाह है। तत्त्व के लोभ से धर्म–परिवर्तन करने वाले बहुत कम होते है। अधिकाश लोग धन, स्त्री आदि के लोभ से ही धर्म–परिवर्तन करते हैं। मगर इस प्रकार की आकाक्षा करना अज्ञान का लक्षण है।

कहा जा सकता है कि जैन धर्म तो त्याग की रूखी बाते बतलाता है, लेकिन जब आत्मशुद्धि के लिये जप और त्याग अनिवार्य हैं तो क्या उनका विधान न किया जाए? और ऐसा कोई मन्त्र बता दिया जाए कि जिसके जपने से सब कामनाए पूरी हो जाया करे? अगर जैन धर्म ऐसा विधान करने लगे तो वह भवभ्रमण मिटाने वाला नही रहेगा, भववृद्धि करने वाला हो जाएगा। ऐसा विधान करने वाला धर्म, धर्म नही कहला सकता।

मध्य युग मे जैनो मे भी चमत्कार घर कर गया था। वह चमत्कार का युग ही था। परन्तु ऐसा करने मे जैनत्व की खूबी नही रही, उलटे इस चक्कर मे पडने से निषिद्ध वस्तु ग्रहण करनी पडी। वास्तव मे जैन धर्म तो इस लोक और परलोक सम्बन्धी चाह का निषेध करता है।

चाह के कारण बडी–बडी ठगाइया चलती हैं। सुना है, देवगढ के ठग कोटा–नरेश को भी ठग ले गये। उसे ठगे जाने का कारण था काक्षा। काक्षा करने वाले धर्म पर स्थिर नही रह सकते।

कह सकते हो कि हम ससारी है, गृहस्थ है। हमे सभी–कुछ चाहिए। परन्तु विचार करो कि क्या काक्षा करने से ही सब–कुछ मिलेगा? और काक्षा न करने से नही मिलेगा? अगर तुम समझते हो कि काक्षा न करने से नही मिलेगा, तो तुम भूलते हो। काक्षा न करने से वस्तु करोड गुणी मिलेगी। सवर, सामायिक आदि धर्माचरण करके काक्षा करने से परलोक तो नही बनेगा, इहलोक भी बिगड जाएगा।

धन–दोलत, पत्नी–पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए परमात्मा की प्रार्थना करना भी काक्षा है। इस प्रकार की काक्षा मोक्ष के लिए किए गए कार्य को भी तुच्छ बना देती है ओर उसमे निकृष्टता ला देती हे। इसके अतिरिक्त धर्माचरण के वदले मे यदि सासारिक सुखो की आकाक्षा की ओर कर्मोदय से सासारिक सुख न मिला तो धर्म के प्रति अरुचि हो जाती हे। इस प्रकार इस काक्षा–दोष की वदोलत धर्म भी चला जाता हे। भक्त तुकाराम कहते हे–

भाग्य सार्ठी गुरु केला, नाही अम्हासी फलला।।1।।

याचा मन्त्र पडता कानी, अमचा पाणी।।2।।

गुरु केला घर वासी, आमुच्या चुकल्या गाई म्हसी।।3।।

स्वामी आपुली वुट–वुट दयावी, अमुची यानी।।4।।

'तुका' म्हणे ऐसे नष्ट, त्यासी दूठो होती कष्ट।।5।।

एक किसान ने किसी को इस अभिलाषा से गुरु बनाया कि इन्हे गुरु बना लेने से मेरा भाग्य खुल जाएगा। मुझे धन मिलेगा। मेरे कुए मे पानी भर जाएगा और खाइया भी भर जाएगी, जिससे खूब खेती होगी। उसने गुरु को घर लाकर गुरुमन्त्र सुनाने को कहा। गुरु ने गुरुमन्त्र सुना दिया। सयोगवश उसी रात को खूब पानी बरस गया, जिससे उस किसान को बहुत हानि हुई। किसान सोचने लगा– आज ही गुरु बनाया और आज ही यह हानि हो गई। मेरी गाय–भैसे भी चली गईं। इस हानि के कारण गुरु ही है। तब वह गुरुजी के पास गया और बोला– अपना गुड–गुड का मन्त्र वापिस ले लो और मेरे यहा पहला ही प्रताप रहने दो। गुरु ने कहा– मै कब तेरे पाव पडने गया था कि मेरा मन्त्र सुन ही ले।

मतलब यह है कि काक्षा करने वाले लोग, काक्षा के कारण, धर्म से भी विमुख हो जाते है। इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि इस लोक या परलोक सम्बन्धी काक्षा मत करो। यही बात दूसरे ग्रन्थो मे भी कही है। गीता मे लिखा है–

ते ते भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल,

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।।

वेदत्रयी मे कहे हुए धर्म का आचरण करके, स्वर्ग मे जाकर देव बनने और भोग भोगने की कामना रखने वाला मनुष्य, चाहे स्वर्ग मे चला भी जाए, परन्तु वहा कुछ ही दिन रह कर, अन्त मे नीचे गिरेगा और जन्म–मरण के चक्कर मे पडेगा। आचारागसूत्र मे भी कहा है–

कामकामी खलु अय पुरिसे जूरई,

तिप्पइ, पीडइ, अणुपीडइ।

जो कामकामी है, जो धर्म करने के बदले मे सासारिक फल चाहता है, वह सोचेगा, झूरेगा और बार–बार कष्ट पाएगा। अतएव धर्म करके किसी भी फल की काक्षा नही करनी चाहिए।

अरिहन्त भगवान् ने काक्षा का निषेध किया है। भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्म का पालन किया जाता है और भगवान् ने धर्म करके काक्षा करने से रोका है। ऐसी स्थिति मे धर्म करके काक्षा करने वाला व्यक्ति आराधक कैसे रह सकता है? काक्षा करने वाले की श्रद्धा कितनी ही दृढ और

पवित्र हो, परन्तु उसे अरिहन्तभाषित धर्म की श्रद्धा मे अतिचार लग ही जाता है।

कदाचित् कहा जाए कि इच्छा तो होती ही है, परन्तु धर्म के बदले मे सासारिक भोगोपभोग की इच्छा नही रखनी चाहिए। इच्छा हो भी तो जन्म–मरण से छुटकारा पाने की ही इच्छा होनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है– इच्छा चाहे मोक्ष की ही क्यो न की जाय, आखिर है तो वह इच्छा और तृष्णा ही? इसका उत्तर यह है कि एक इच्छा बन्धन मे डालने वाली होती है और एक इच्छा बन्धन से निकलने की होती है। मोक्ष की इच्छा बन्धन से निकलने की है। इसलिए इस काक्षा से सम्यक्त्व मे दूषण नही लगता। साधना की उच्चतम स्थिति मे पहुच जाने पर वह इच्छा भी नष्ट हो जाती है। कहा भी है–

यस्स मोक्षरोप्यनाकाक्षा, स मोक्षमधिगच्छति।

जो इच्छा से सर्वथा रहित हो जाता है, जिसके हृदय मे मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

तो प्रारम्भिक दशा मे भले मोक्ष की इच्छा रहे, मगर मोक्ष के सिवाय और कोई सासारिक इच्छा, जिससे सम्यक्त्व मलीन होता है, नही होनी चाहिए।

कहा जा सकता है– हम गृहस्थ हें, अतएव हमे धन, स्त्री, पुत्र आदि की कामना रहती हे और विशेषत इन्हीं की प्राप्ति के लिए कष्ट भी उठाते है। फिर यदि हम धर्म के द्वारा ही इन्हे चाहे तो क्या बुराई हे? इसके उत्तर मे कहना है– तू सिद्धान्त की बात मानता है या अपने मन की वात मानता हे? यदि सिद्धान्त की बात मानता है तो धर्म करके काक्षा मत कर। काक्षा करने से ही इष्ट पदार्थ मिले ओर काक्षा न करने से न मिले, ऐसी बात नही हे।

इष्ट पदार्थो की प्राप्ति पुण्य से हाती हे। पुण्य दो प्रकार का हे– सकाक्ष और निष्काक्ष। सकाक्ष पुण्य अच्छा नही होता। उसके निमित्त से धन या पुत्र मिल भी गया तो लडका प्राय खराव निकलता हे ओर धन प्राय पाप मे डालने वाला होता हे।

काक्षा की पूर्ति के लिए धर्म या पुण्य करने की वात कुगुरुओ की चलाई हुई है और उसका परिणाम यह हुआ कि लोग धर्म को भूल ही वेठे हें। कई साधुओ ने सोचा कि यो तो श्रावक हमारे चगुल मे नहीं फसते, अतएव उन्होने भी पाखण्ड फेलाया कि ऐसा करो तो ऐसा होगा। लेकिन इस प्रकार के पाखड से धर्म की हानि ही हुई हे। भगवान् ने तो कहा कि चाहे राजकुल

मे से निकल कर और राज्य त्याग कर भी मुनि हो, तब भी यदि तप करके वह किसी पकार की काक्षा करता है तो उसका त्याग–तप वृथा है। जब भगवान् ने मुनि के लिए भी ऐसा कहा है तो काक्षा करने से श्रावक को सम्यक्त्व मे अतिचार क्यो नही लगेगा?

किरातार्जुनीय काव्य को देखो तो मालूम होगा कि जैन धर्म कितना व्यापक धर्म है। जब अर्जुन तप कर रहे थे, तब एक ओर तो उनके हाथ मे धनुष और बाण था और दूसरी ओर जगल मे वे ऐसे घोर तप मे मग्न थे कि तिलोत्तमा जैसी अप्सरा भी उन्हे विचलित न कर सकी, बल्कि जब तिलोत्तमा शरीर खोल कर अपना रूप–सौन्दर्य दिखलाने लगी, तब अर्जुन ने उससे कहा– अगर मै तुम्हारे उदर से जन्मा होता तो मै भी ऐसा सुन्दर होता। अर्जुन की बात सुनकर तिलोत्तमा चली गई। फिर इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके आया और अर्जुन से कहने लगा–

हे अर्जुन! मुझे आश्चर्य होता है कि कहा तुम्हारा तप और कहा तुम्हारे हाथ मे धनुष–बाण? तप करते हो तो तपस्वी का वेष धारण करो और आयुध रखते हो तो दूसरे काम करो। तुम आयुध पास रख कर भी तप करते हो, इससे जान पडता है कि तुम मोक्ष के लिए नही, किन्तु युद्ध मे विजयी होने के लिए तप कर रहे हो। अगर मेरा अनुमान सत्य है तो तुम्हारा यह तप तुच्छ है। तप मोक्ष के लिए होना चाहिए और तुम तप करके वैरी का विनाश चाहते हो?

य करोति वधोदर्का नि श्रेयसकरी क्रिया।
ग्लानि दोषच्छिद स्वच्छा, स मूढ पकयत्यप।।

मोक्ष देने वाली क्रियाओ को जो हिसा या वध के उदेद्श्य से करता है, वह मूर्ख है। वह निर्मल जल को भी मानो मलीन करता है।

जिस पानी मे मलीन वस्तु को भी स्वच्छ कर देने का गुण है, जो शीतलता देने वाला, तृषा बुझा देने वाला है, उसे मैला बना देने वाला बुद्धिमान कहा जाएगा या मूर्ख? मूर्ख!

इन्द्र कहता है– हे अर्जुन! इसी प्रकार जिस तप से अनन्तकाल की तृष्णा नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त होता है, उसे ससार–कामना के लिए क्यो करते हो? ऐसा तप करके सासारिक कामना करना पानी को कीचड मे मिलाने के समान है। अतएव ससार के लिए तप करके तुम तप को मलिन मत करो।

किरातार्जुनीय के इस कथन से भी स्पष्ट है कि काक्षारहित तप ही करना चाहिए। काक्षा न होने पर क्रिया का फल उत्कृष्ट ही मिलेगा।

सासारिक वैभव तो कीचड है। आत्मोन्नति रूप धर्म–जल को इस कीचड मे मिलाना ठीक नही। सोचना चाहिए कि अनन्त बार चक्रवर्ती का राज्य भी मिला ओर उससे भी सन्तोष न हुआ तो दूसरे सासारिक पदार्थ मिलने पर कैसे सन्तोष हो सकता है? जो प्यास क्षीर सागर के जल से भी नही मिटती, वह गटर के पानी से कैसे मिट सकती है? फिर काक्षा करके धर्म को क्यो बिगाडा जाए?

प्रश्न हो सकता है कि अर्जुन का तप ससार के लिए था तो चक्रवर्तियो का तप किसलिए था? इसका उत्तर यह है कि यह तो भाव पर निर्भर है। चक्रवर्तियो का तप ससार के लिए भी हो सकता है और मोक्ष के लिए भी हो सकता है कई चक्रवर्ती मोक्ष गये हैं ओर कई नरक गये हैं। इस अन्तर का कारण भावना है। इस पर भी कदाचित् चक्रवर्ती ने ससार की भावना से तप किया हो तो भी सम्यग्दृष्टि के लिए तो यह कार्य अतिचार रूप ही है। इसके सिवाय, उनका तप व्रत रूप नही था, तब धर्म के लिए रहा ही कहा?

सबसे पहले आप इस बात पर विचार कीजिए कि आपको धर्म के द्वारा सासारिक भावनाए बढानी हैं या सासारिक भावनाओ का त्याग करना है? अगर सासारिक भावनाए बढानी है तो फिर उन्हे बढाने के साधन तो और भी बहुत–से हे। धर्म को कलुषित करने की क्या आवश्यकता हे? अगर सासारिक भावनाए घटानी हैं तो फिर सासारिक पदार्थो की कामना क्यो करते हो?

सो बात की एक बात यह हे कि आप आत्मशुद्धि और मुक्ति की पवित्र भावना से धर्म का आचरण कीजिए। इस प्रकार आचरण करने से जो सासारिक सुख मिलने हें, वे तो मिल ही जाएगे। वे कही भागने वाले नही हे। फिर धर्माचरण के उत्कृष्ट फल से वचित होने की क्या आवश्यकता हे? किसान धान्य के लिए खेती करेगा तो क्या उसे भूसा नहीं मिलेगा? मिलेगा। पर उस किसान को आप क्या कहेगे जो भूसे के लिए ही खेती करता हे? जो सासारिक पदार्थो की आकाक्षा से प्रेरित होकर धर्मक्रिया करते हें, वे भूसे के लिए खेती करने वाले किसान के समान हे।

इस प्रकार समझकर काक्षा का त्याग करने वाला श्रावक ही निरतिचार सम्यक्त्व का धारक हो सकता हे।

3. विचिकित्सा

विचिकित्सा एक प्रकार का मतिभ्रम है। युक्तिसिद्ध आगम के अर्थ पर तो विश्वास हो जाए, परन्तु उसके फल के सम्बन्ध मे सन्देह बना रहे तो इसे सम्यक्त्व का विचिकित्सा नामक अतिचार समझना चाहिए। उदाहरण के लिए, शास्त्र से अहिसा और सत्य का पालन करना तो सिद्ध है, लेकिन यह सन्देह रहा कि इनका पालन करने पर भी फल मिलेगा या नही? क्योकि देखते है कि झूठ का आचरण करने वाला आनन्द उडाता है और सत्य का सेवन करने वाला कष्ट भोग रहा है? इस कारण झूठ की ओर रहे या सत्य की ओर? इसी प्रकार अहिसा–अहिसा करके जैनियो ने राज्य डुबो दिया और हिसा करने वाले मौज करते है। तब हिसा को माने या अहिसा को? इस प्रकार फल सम्बन्धी सन्देह को विचिकित्सा कहते है।

प्रासगिक रूप मे मुझे कहना है कि पहले जैनो की अहिसा पर दोषारोपण किया जाता था। लाला लाजपतराय के दादा ने इस (स्थानकवासी) सम्प्रदाय से साधु–दीक्षा ली थी, पर साम्प्रदायिक सकीर्णता देखकर लालाजी अलग हो गए और जैन धर्म की अहिसा को दोष देने लगे। उन्होने एक लेख मे लिखा था कि अहिसा–राक्षसी ने हमारे अनेक नवयुवको के प्राण ले लिये है। जब गाधीजी ने अहिसात्मक आन्दोलन चलाया, तब भी लालाजी ने उसका विरोध किया। मगर गाधीजी के अहिसात्मक आन्दोलन का क्रियात्मक रूप देखकर कौन उसका विरोध कर सकता था? गाधीजी ने लाजपतराय के प्रश्नो का जो उत्तर दिया, उसका भी उन पर असर पडा। अन्त मे लाजपतराय भी अहिसा के भक्त हो गये।

मतलब यह है कि आगम पर विश्वास तो किया, परन्तु धर्म का फल ससार मे देखने लगे और फलविषयक सन्देह करने लगे तो यह विचिकित्सा है। जेसे एक अहिसावादी का सिर कटते देखकर विचार करना कि अहिसा पालने वाले का तो सिर कट जाता है। बात को दूसरा रूप देना और कायरता पर धार्मिकता का रग चढा देना भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है। विचिकित्सा ग्रस्त मानस विचार करता हे– यह रेत के कौर के समान नीरस धर्मकार्य हम करते तो हैं, परन्तु कोन जाने इनका फल मिलेगा या नहीं? क्योकि क्रिया सदा सफल नही होती। किसान बीज बोता है, किन्तु कभी फल मिलता है और कभी नही भी मिलता। धर्मकार्य करके इस प्रकार विचार करना विचिकित्सा है।

परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि पक्के किसान को अपने बोये बीज के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नही रहता। बारह वर्ष तक बराबर दुष्काल पडते रहने पर भी किसान बीज बोया करता है। उसे यह विश्वास रहता है कि खेती से अनाज पैदा होता है। इसके सिवाय, किसान किस आधार पर मान ले कि इस वर्ष भी दुष्काल ही पडेगा?

इस तरह जिन्हे अपने कार्य के फल पर विश्वास है, वे नि सन्देह कार्य करते रहते है। लेकिन जिन्हे विश्वास नही है, वे कार्य को ठीक मान कर भी, फलविषयक सन्देह के कारण, कार्य करने मे उत्साहवान नही होते। बहुत–से आदमी सोचते है कि हमने साधु की सेवा की, पर कोई फल नही निकला। तो अब साधु के यहा जाए या नही? जान पडता है, इन साधुओ मे कोई चमत्कार नही है। जाना तो वहा चाहिए जहा चमत्कार हो।

इस प्रकार बनियाई से धर्म करने वाले को सन्देह बना रहता है और किसान की तरह धर्म करने वाले को सन्देह नही होता।

दुष्काल पडने पर भी यदि कोई किसान आपसे पूछे कि, मैं बीज बोऊ या नही ? तो आप उसे क्या राय देगे? यही कहेगे कि दुष्काल खेती से नही निकला हे, यह तो किसी अदृश्य शक्ति से पडा है। उस अदृश्य शक्ति से घबरा कर दृश्य शक्ति को छोड देना और बीज न बोना केसे उचित है? बहिनो से कभी–कभी रसोई बनाते–बनाते बिगड भी जाती है। कभी रोटी जल जाती है ओर कभी खिचडी मे नमक ज्यादा हो जाता हे। लेकिन आज रसोई बिगड गई तो क्या वह कल न बनाएगी? बनाएगी ही।

क्योकि यह विश्वास हे कि जो खराबी हुई है, वह गलती से हुई हे और भोजन बनाये बिना तेयार नही हो सकता। इसी प्रकार आपको भी विश्वास होना चाहिए कि धर्म करते हुए भी जो कष्ट आए है, वे कष्ट धर्म के कारण नही आये हें, किन्तु दूसरी गलती या पूर्वजन्म के पाप के कारण आये हें।

लोगो का चित्त किस प्रकार मिथ्या भ्रम मे पड जाता हे, यह बात स्वामी रामतीर्थ ने एक उदाहरण देकर समझाई हे। एक विद्यार्थी कॉलेज की छुट्टियो मे अपने घर गया। घर ग्राम मे था। घर मे पुराने विचार की एक बुढिया थी। वह लडके से कहा करती थी कि अमुक लक्षण बुरा हे, आदि–आदि। लडका अपने साथ एक घडी लाया था। बुढिया ने कभी घडी देखी नही थी। अत उसने लडके से पूछा– यह क्या हे? लडके ने कहा– घडी ह। बुढिया ने पूछा– इसमे यह 'कट्–कट' क्या होता हे? लडके ने उत्तर

दिया– इसके पुर्जे। बुढिया ने कहा– तू झूठ बोलता है। इसके भीतर कोई बैठा है, वह 'टक्–टक्' करता है।

बुढिया को रात–भर यह चिन्ता रही कि लडका नये विचारो का है, अपने साथ न जाने क्या बला ले आया है? सयोग की बात कि उस लडके के छोटे भाई को बुखार आ गया। बुढिया ने विचारा कि लडके के बुखार का कारण वह बला ही है। यदि घर से बला न गई तो इस लडके का बुखार भी नही जाएगा। सवेरे लडके का बुखार बढ गया और बुढिया का घडी के प्रति सदेह बढ गया। उसने उस घडी को चुराया और एक पत्थर पर रख कर दूसरे पत्थर से फोडते हुए कहा– बला, जा।

इत्तिफाक की बात! लडके का बुखार भी चला गया। बुढिया का विश्वास पक्का हो गया। उसने कॉलेज से आये हुए लडके से कहा– अब कभी इस प्रकार की बला अपने साथ मत लाना, नही तो मै तुझे घर मे भी न आने दूगी। क्या बुढिया का यह वहम ठीक था? 'नही!'

आप लोगो मे भी ऐसे बहुत–से वहम घुसे हुए हैं। वहम के कारण जिस प्रकार बुढिया ने घडी को नष्ट की, उसी प्रकार आप भी वहम घुस जाने पर सद्‌गुणो को नष्ट करते है और धर्म का त्याग कर देते है। लोग कार्य–कारण पर विचार नही करते और किसी भी कार्य का कोई भी कारण समझ बैठते हैं, इससे परम्परा बिगड जाती है।

गजसुकुमार मुनि ने दीक्षा ली और उनके सिर पर जलते हुए अगार रखे गये। इसमे किसका दोष था? क्या दीक्षा का दोष था? 'नही'।

यदि आप इसमे सयम का दोष नही समझते तो फिर अपने समय ऐसा ही क्यो नही विचारते? आप तो किसी बुराई के आने पर सद्‌गुणो को ही दोष देते हो और धर्म पर अविश्वास करने लगते हो!

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उदय जहा होता है, वही शका, काक्षा और विचिकित्सा आदि दो उत्पन्न होते है।

प्रश्न होता है– बुद्धिमान लोग प्रत्येक कार्य के फल के विषय मे विचार करते हैं, फिर उसके विषय मे सन्देह करना मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उदय कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप फल के विषय मे विचार कर सकते है, पर सन्देह क्यो करें? उसकी कामना करने से भी क्या लाभ है? आपको यही विचार करना चाहिए कि मैंने जो कार्य किया है, वह अरिहन्त भगवत

के उपदेशानुसार किया है या उपदेश–विरुद्ध? यदि उपदेशानुसार ही किया है तो फिर फल के विषय मे सन्देह क्यो है? जिन अरिहन्त के उपदेश के अनुसार कार्य किया है, वे तो सर्वज्ञ है न? जब उनकी सर्वज्ञता पर विश्वास हो चुका है, तब फिर उनके वचनानुसार किये हुए कार्य के फल मे सन्देह क्यो है? जिनको हमने सम्पूर्ण ज्ञानी माना है, उनकी कही हुई बात के विषय मे सन्देह तो होना ही नही चाहिए। बल्कि सम्पूर्णभाव से नि सन्देह रहना चाहिये और कोई बात समझ मे न आवे, तब भी कहना चाहिए–

तमेव सच्च णीसक, ज जिणेहि पवेइय।

लोग हथेली पर पेड उगाना चाहते हैं, अर्थात् धर्मकार्य का फल तत्काल देखना चाहते हैं। लेकिन वास्तव मे–

अनेकजन्म ससिद्धिस्ततो याति परा गतिम्।

साधना का फल प्राप्त करने मे अनेक जन्म बीत जाते हैं, अतएव फल–प्राप्ति मे उतावली करना योग्य नही।

विचिकित्सा को सम्यक्त्व का अतिचार कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि विचिकित्सा करने से सम्यक्त्व नष्ट तो नही होता, किन्तु उसकी दशा उसी प्रकार की होती हे, जिस प्रकार तालाब का पानी पवन से उछाले खाता है, किन्तु पाल के कारण तालाब के बाहर नही जा पाता। फिर भी ऐसा जल स्थिर नही कहला सकता। इसी प्रकार श्रावक सामाजिक विचार आदि के कारण श्रद्धा मे बधा हुआ हे, श्रद्धा अभी त्यागी नही हे, परन्तु चित्त मे स्थिरता नही हे। भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा मे विचिकित्सा होने से भी मनुष्य धर्म से गिर सकता हे।

आजकल बहुत–से लोग शका ओर काक्षा मे ही पडे हें ओर इससे बचे हुए बहुत–से विचिकित्सा मे पड जाते हैं। इसी कारण कई लोग धर्म को गाली भी देते हैं। मगर ऐसे लोग वही हे जो धर्म को नही समझते। एक बुद्धिमान ने अपने लेख मे लिखा था कि परमात्मा के घर देर भले ही हो, पर अन्धेर नहीं हें। लेकिन ज्ञानियो का कथन हे कि धर्म मे अन्धेर तो हे ही नही, देर भी नही हे। लोग इधर धर्म करते हें ओर उधर फल चाहते हें, इसी कारण धर्म के प्रति अश्रद्धा होती हे। परन्तु धर्म का फल समय पर ही मिल सकता है। वह असमय मे नही मिल सकता ओर न असमय मे चाहना ही चाहिए। असमय मे कोई भी बात होने से दुर्व्यवस्था होगी। किसान मक्की बोकर उसी समय फल नहीं चाहता। मक्की को फल लगने मे साठ–सत्तर दिन की जो मर्यादा हे, उसके बाद ही वह फल चाहता हे। मगर लागो को धर्म का फल

उसी समय चाहिए। आज धर्म किया और आज ही उसका फल मिल जाना चाहिए। उसकी स्वाभाविक काल–मर्यादा उन्हे सह्य नही। लेकिन मर्यादाहीन कार्य किसी मतलब के नही होते। वे कार्य बाजीगर के तमाशे के समान हो जाएगे। बाजीगर उसी समय आम का पेड लगा देगा और उसी समय उसमे फल भी लगा देगा, परन्तु उस पेड और उन फलो का अस्तित्व कितनी देर रह सकेगा? वे फल काम के होते तो बाजीगर भीख ही क्यो मागता फिरता? तत्काल फल की इच्छा रखने वाले लोग धर्म रूपी वृक्ष को उखाड–उखाड कर देखते है और फिर धर्म के प्रति अश्रद्धा करने लगते है।

ज्ञातासूत्र मे विचिकित्सा का भाव दिखाने के लिए मोर के अण्डो का दृष्टान्त दिया है। कहा गया है कि दो आदमी मोरनी के अण्डे लाये। एक ने विश्वास रखा कि यह अण्डा मोरनी का है और मुर्गी इसमे से बच्चे निकाल देगी। ऐसा विश्वास रखने से उसके लाये अण्डे मे से बच्चे निकल आए। लेकिन दूसरे आदमी को अण्डो के प्रति अविश्वास रहा। वह यही सन्देह करता रहा कि क्या मालूम, इन अण्डो मे बच्चे है या नही? इस प्रकार के अविश्वास के कारण वह अण्डो को बार–बार हिला–हिला कर देखता रहा, जिससे वे अण्डे व्यर्थ गये– उनमे से बच्चे नही निकले। यह दृष्टान्त देकर ज्ञातासूत्र मे समझाया है कि धर्म मे विचिकित्सा रखने से ऐसा ही होता है।

मनुष्य सासारिक कामो मे यदि अस्थिरता से ही काम ले तो वे ठीक नही हो सकते। इस प्रकार जब ससार–व्यवहार मे भी स्थिरता की आवश्यकता है तो क्या धर्म मे स्थिरता की आवश्यकता न होगी? केले के पौधे के प्रति सन्देह करके उसके छिलके उतारने वाले को क्या मिलने वाला है? उस पर विश्वास रख कर सीचने वाला मीठे फल पाता है। यही बात धर्म के विषय मे भी समझो।

मतलब यह है कि धर्म का तत्क्षण फल चाह कर और तत्क्षण न मिलने पर धर्म के प्रति अविश्वास मत लाओ, धैर्यपूर्वक विश्वास रखो यही बात बतलाने के लिए गीता मे भी कहा है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्– कार्य करो, कार्य का फल न चाहो।

दो–चार वर्ष तक जीवित रह सकने वाला, जर्जरित–देह एक बूढा आम के वृक्ष लगा कर सीच रहा था। कुछ लोग उधर से निकले। वे उस बूढे को आम के पेड सीचते देखकर कहने लगे–यह बूढा कितना मूर्ख मालूम होता

है। इसे कितने दिन जीना है? यह कब फल खा सकेगा? फिर भी कितनी मेहनत कर रहा है?

उस बूढे ने कहा– मै आपकी बात मानू या कर्तव्य को? मैंने दूसरे के लगाये आम के फल खाये हैं तो मेरे लगाये आम के फल मैं ही खाऊ, यह तो तुच्छ बुद्धि है।

अक्सर लोग ससार–व्यवहार मे तो उस बूढे की–सी बुद्धि रखते है, लेकिन धर्म मे इस बुद्धि को भूल जाते है। बहुत–से लोग बनियापन से ही धर्म करते है और सोचते है– हमने अमुक धर्म किया है, इसका यह फल मिले और यदि यह फल न मिले तो यह धर्म नही! इसी प्रकार धर्मकार्य के सम्बन्ध मे भी सोचते है कि अमुक ऐसा करे तो मै भी करू, नही तो नही करू। यह सब धर्म के प्रति अस्थिरता का फल है। यह धर्मप्रेम नही है। अगर आपके अन्त करण मे धर्म के प्रति प्रेम है, आप धर्म को बडा समझते है, तो धर्म के विषय मे शका, काक्षा और विचिकित्सा न रखकर धर्म का सेवन करो। तभी धर्म का वास्तविक फल प्राप्त होगा।

कुछ लोग विचिकित्सा का दूसरा अर्थ करते है– विद्वद् जुगुप्सा। अर्थात् ज्ञानियो की निन्दा करना, उनके प्रति घृणा का भाव रखना विचिकित्सा कहलाता हे। यहा ज्ञानी से अभिप्राय मुनि का है। अत विचिकित्सा का त्याग करना, अर्थात् मुनियो की निन्दा करने का त्याग करना चाहिये।

जिन्होने ससार के कारणो को द्रव्य और भाव, दोनो ही दृष्टि से त्याग दिया हे, ऐसे साधुओ की भी निन्दा करने से लोग नही चूकते। कई कहने लगते है– अजी, वे साधु तो स्नान नही करते। उनका शरीर तो स्वेद ओर मेल से भरा रहता है ओर दुर्गन्ध देता हे। वे कच्चा पानी नही छूते तो गर्म पानी से ही शरीर साफ क्यो नही कर लेते? गर्म पानी से भी शरीर स्वच्छ नही करने वाले साधु क्या आलसी है?

दूसरे लोग ऐसी बाते कहे तो कहे परन्तु कई जेन कहलाने वाले लोग भी ऐसी बाते कहते हैं। वे देखते हैं– अहिसा, सत्य, आदि महाव्रतो के पालन मे तो हम इनमे जीतते नही, इसलिए ऐसी बात बनाना चाहिए, जिससे इनके प्रति घृणा का भाव जाग्रत हो जाए। इसीलिए वे कहते हे– 'इन साधुओ मे ओर बात तो ठीक हे, परन्तु ये मेले रहते हे।'

ऐसे कहने वाले जेन लोगो से पूछना चाहिए कि आप यह बात आगम के आधार पर कहते हें या अपनी इच्छा से? आगम मे साधु के लिए क्या यह नही कहा गया हे कि–

कि विभूसाए कारिय?

अर्थात् साधु को शरीर का सस्कार करने का क्या प्रयोजन है? स्नान न करना एक प्रकार का कष्ट भोगना ही है। यदि शास्त्र मे साधु के लिए स्नान करने का विधान हो तो साधु क्यो व्यर्थ कष्ट भी सहन करे? और शास्त्राज्ञा का उल्लघन भी करे? ऐसा करने से साधु को क्या लाभ है? जब साधु शास्त्रोक्त अहिसा आदि व्रतो का पालन करता है तो नहाने—धोने मे ही उसका क्या बिगडता था? स्नान के सम्बन्ध मे शास्त्र का कथन है—

सतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य।
जे अ भिक्खू सिणायतो, विअडेणुप्पिलावए।।

जो साधु स्नान करता है, वह हिसा से नही बच सकता। पृथ्वी की दरारो आदि मे रहे हुए जीव अचित्त जल से भी मर जाते या कष्ट पाते है।

स्नान के सम्बन्ध मे मैने डाक्टरो के अभिप्राय पढे है। एक लेख मे उनके अभिप्राय प्रकट किए गए थे। कई डाक्टरो का कहना है कि शरीर की चमडी मे बाह्य आघात सहन करने का जो गुण है, वह स्नान करने से नष्ट हो जाता है। यानी चमडी मे कमजोरी आ जाती है, चमडी पतली पड जाती है, जिससे और बीमारिया होने लगती है।

स्नान सोलह श्रृगारो मे गिना जाता है। जिसने श्रृगार करना छोड दिया है, वह स्नान क्यो करे?

यह जैन—दृष्टि का विचार है। कोई वैष्णव भाई कह सकते है कि हमारे यहा तो स्नान के बिना मोक्ष ही नही है। परन्तु ऐसा कहने वाले सन्यास धर्म से अपरिचित है। वैष्णवो की कई कथाओ मे कहा गया है कि अमुक तपस्वी ने ऐसी तपस्या की कि शरीर के ऊपर दीमक चढ गई। अगर वे तपस्वी स्नान करते होते तो शरीर पर दीमक कैसे लग जाती?

इसके सिवा, जब स्नान से ही मोक्ष है तो फिर शरीर पर राख क्यो लगाई जाती हे? जब शरीर पर राख लगाई जाती है तो हमारा स्नान न करना ही क्या बुरा है?

शौणिक पुराण मे 18 वे अध्याय के श्लोक 41—42 मे वैष्णव त्यागी के लिए जो नियम बतलाये गये हैं, उन्हे जैन त्यागी के 52 अनाचारो से मिलाएगे तो आपको वस्तुस्थिति का पता लग जाएगा। वहा परापवाद, चुगली, लोभ, जुआ, जनपरिवाद, स्त्री को देखना, छतरी लगाना, दातुन करना या मजन

करना, मिस्सी लगाना, गदा भोजन करना, नमकीन भोजन करना, मैल उताराना, शुद्र यानी नीच प्रकृति वाले से भाषण करना और गुरु की अवज्ञा करना आदि—आदि मना किया गया है।

यह तो त्यागी सन्यासी पुरुष की बात हुई। गृहस्थ के लिए भी महाभारत मे कहा है—

आत्मा नदी सयम तोयपूर्णा, सत्योदका शील तटा दयोर्मि।
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।।

हे युधिष्ठिर! अन्तरात्मा कामैल पानी से नही धुलता। सयम रूपी पानी से परिपूर्ण शील रूपी तट वाली और दया की लहरो से लहराने वाली, आत्मा रूपी नदी मे, अर्थात् सयम मे स्नान करने से ही अन्तरात्मा शुद्ध हो सकती है।

4. परपाखण्डप्रशंसा

सम्यक्त्व का चौथा अतिचार 'परपाखण्ड प्रशसा' है। 'पर' शब्द का अर्थ है— दूसरा। किन्तु 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ क्या हे? यह देखना है। 'पाखण्ड' का अर्थ दभ सर्वसाधारण मे प्रसिद्ध है। यहा इसी अर्थ को लिया जाए तो इस अतिचार का अर्थ होगा— दूसरे के पाखण्ड अर्थात् दभ की प्रशसा करना।

यहा प्रश्न यह उपस्थिति होता हे कि क्या दूसरे का पाखण्ड ही बुरा हे? अपना पाखण्ड या दभ बुरा नही? यदि दभ मात्र बुरा हे तो दूसरे के दभ की प्रशसा करने से ही क्यो दोष लगता हे? क्या अपने दभ की प्रशसा करने से दोष नही लगेगा? अगर अपने पाखण्ड की प्रशसा करना भी दोष हे तो यहा 'पर' शब्द जोडने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का उत्तर यह हे के पाखण्ड शब्द अनेकार्थक है। इसका अर्थ दभ भी होता हे ओर व्रत भी होता है यहा इसका अर्थ व्रत हे।

सर्वज्ञ के बताये हुए व्रत के सिवाय अन्य व्रत को परपाखण्ड कहते हैं। कहा जा सकता हे कि क्या सर्वज्ञ के बताये व्रत भी पाखण्ड हे? इसका उत्तर यह हे कि जो पाप का नाश करे, वह पाखण्ड हे और व्रत पाप का नाशक हे, अत व्रत का नाम पाखण्ड हे।

पापनि खण्डयतीति पाखण्ड।

निर्युक्ति मे कहा हे —

पव्वइए अणगारे, पासडे चरग–तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे, निग्गथे सजए मुक्के।।

यहा मुनियो के जो पर्यायवाची शब्द बतलाये गए है, उनमे एक नाम पाखण्डी भी है और भी कहा है–

पाषण्ड व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमल भुवि।
स पाषण्डी वदन्त्येके, कर्मपाशाद् विनिर्गत।।

यह श्लोक दशवैकालिक सूत्र की टीका का है। इसमे कहा गया है कि पाषण्ड व्रत को कहते है, व्रत मैले भी होते है और निर्मल भी होते है। परन्तु जो निर्मल व्रत धारण करने वाले है, उन्हे पाखण्डी भी कहते है। मतलब यह है कि पाषण्ड अर्थात् व्रत सर्वज्ञ प्रणीत भी है और असर्वज्ञ प्रणीत भी। जो असर्वज्ञ प्रणीत है, वे परपाखण्ड है। जो असर्वज्ञ प्रणीत पाखण्ड है, उन्हे कोई दूसरा भले मानता हो, परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हे नही मानेगा। वह उनकी प्रशसा नही करेगा।

परपाखण्ड के शास्त्र मे 363 भेद बतलाए है। शास्त्र मे उन परपाखण्डो की व्याख्या भी की है। वैसे तो परपाखण्डधारी भी अपने आप को मोक्ष का अधिकारी मानते है, परन्तु जो अपने मन से सर्वज्ञ बना है, हम उसे सर्वज्ञ नही मानते और जो सर्वज्ञ नही है, उसके बताये हुए व्रतो को हम पाखण्ड तो मानेगे, परन्तु कहेगे परपाखण्ड ही।

प्रश्न हो सकता है कि जब आप दूसरे के व्रत को परपाखण्ड मानते हैं तो फिर दूसरे शास्त्रो के प्रमाण क्यो देते हैं? इसका उत्तर यह है कि अदालत मे जब मुकदमा होता है तो कैसे भी गवाह क्यो न हो, अगर अपना पक्ष पुष्ट होता है तो उसकी गवाही दिलानी पडती है। उस समय उसके दूसरे दोषो का विचार नही किया जाता। कई बार तो वेश्या की भी गवाही दिलानी पडती है।

इसी प्रकार हम अपने पक्ष की सत्यता सिद्ध करने कि लिए दूसरे के शास्त्रो की साक्षी देते है। हमे उनके कर्ता के चरित्र से क्या मतलब है? प्रमाण देने मात्र से हमने दूसरे के शास्त्र को ही नही मान लिया है, केवल अपने पक्ष की पुष्टि, अर्थात् शास्त्र के सत्य पक्ष को सबलशाली एव अकाटय प्रामाणिकता जतलाई है। उदाहरण के लिए एक बात का यहा उल्लेख करता हू। यह बात शायद महाभारत की है।

एक बार द्रोपदी गगा या यमुना मे स्नान करने गई। द्रौपदी स्नान करती थी, इतने ही मे तेजस्वी, ओजस्वी और वीर माने जाने वाले कर्ण

कुण्डल–मुकुट पहने, हाथ मे धनुष लिये उधर से निकले। द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पडी। कर्ण को देखकर, उनकी वीरता आदि का स्मरण करके द्रौपदी अपने मन मे कहने लगी– क्या करू। ससार का नियम अजव है और उसका पालन करना ही होता है। यदि यह कर्ण कुन्ती के पेट से जन्मे होते, तो जैसे मैने पाच पति वरे थे, वैसे ही इन्हे भी वर लेती।

स्नान करके द्रौपदी अपने घर गई। द्रोपदी के इन मनोगत भावो को कृष्ण ने योगवल से जान लिया। कृष्ण ने विचार किया– किसी दूसरी स्त्री की वात तो अलग है, परन्तु द्रोपदी जैसी सती इस प्रकार की भावना करे, यह सूर्य, चन्द्र के पृथ्वी पर गिरने जैसी आश्चर्य की वात है। कृष्ण विना वुलाये ही हस्तिनापुर आए। पाण्डव लोग कृष्ण का स्वागत करने लगे, परन्तु कृष्ण ने कहा– मैं स्वागत कराने नही आया हू, किन्तु किसी दूसरे ही कार्य से आया हू। चलो, अपन सव वन को चले, वहा वनभोजन करेगे। द्रोपदी तुम भी साथ चलो। कृष्ण की वात मान कर द्रोपदी सहित सव पाण्डव कृष्ण के साथ वन को चले। चलते–चलते एक सुन्दर वन आया। कृष्ण ने कहा– यह वन हे तो सुन्दर, परन्तु तुम्हारा नही है। इसलिये इसके फलो पर मन मत ललचाना। इस प्रकार सवको सावधान करके कृष्ण आगे चले। आगे एक पके हुए जामुन का पेड मिला। भीम ने पके हुए जामुन देखकर इधर–उधर देखा ओर यह समझ कर कि कोई नही देखता हे, वृक्ष मे से एक जामुन का फल तोड लिया? भीम को जामुन का फल तोडते कृष्ण ने देख लिया। उन्होने भीम को डाट कर कहा कि मेने अभी थोडी ही देर हुई, तुम्हे शिक्षा दी हे, फिर भी तुमने फल तोड लिया। भीम ने शर्मिन्दा होकर उत्तर दिया कि गलती हुई। कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम के पाप का प्रायश्चित्त तुम पाचो भाई करो आर द्रोपदी! तुम भी प्रायश्चित्त करो। तुम्हारे पति के मन मे एक जम्बू–फल के लिये चोरी की भावना क्यो आई?

युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि हम इसका क्या प्रायश्चित्त करे? कृष्ण ने उत्तर दिया कि इस टूटे हुए फल को पुन डाली पर लगाओ। युधिष्ठिर ने पूछा– कसे लगावे? कृष्ण ने उत्तर दिया कि अपने–अपने पापो की आलोचना करके कहो कि इन पापो के सिवा ओर पाप न किया हो तो हे फल! उस शक्ति से तू ऊपर उठकर डाली पर लग जा! युधिष्ठिर ने कृष्ण की वात सुनकर कहा– यदि मने सत्य ही कहा हे ओर सत्य का ही आचरण किया हो तो– ह फल! तू ऊपर चट। युधिष्ठिर क यह कहने पर फल ऊपर उठ कर डाली की आर चलन लगा। कृष्ण न कहा कि युधिष्ठिर की परीक्षा हो

गई, इसलिये हे फल, तू ठहर। कृष्ण ने फिर भीम को बुलाया। भीम ने कहा– मै तो पापी हू। कृष्ण ने कहा– अच्छा तुम ठहर जाओ। अर्जुन, तुम आओ। अर्जुन ने आकर अपने पाप की आलोचना करके कहा– इनके सिवा पाप न किया हो तो फल ऊपर चढ, नही तो नीचे गिर। अर्जुन के कहने पर भी फल ऊपर चढने लगा, परन्तु कृष्ण ने फल को रोक लिया। इसी प्रकार नकुल और सहदेव ने भी अपने पापो की आलोचना करके फल को चढने के लिए कहा। उनके कहने पर भी फल चढने लगा, परन्तु कृष्ण ने रोक लिया। फिर कृष्ण ने भीम से कहा– अब तुम फल चढाओ। भीम ने कहा– मैने अभी इसी फल को तोडने का पाप किया है। कृष्ण ने उत्तर दिया– यह पाप तो प्रत्यक्ष है, इसके सिवा और पापो की आलोचना करो। भीम ने कहा– मैने इस पाप के सिवा और पाप न किया हो तो फल, तू ऊपर चढ, नही तो नीचे गिर जा। भीम के कहने पर भी फल ऊपर चढने लगा, परन्तु कृष्ण ने रोक लिया।

पाण्डवो की परीक्षा हो जाने पर, कृष्ण ने द्रौपदी से कहा कि द्रोपदी, अब तुम अपने पापो की आलोचना करके फल को ऊपर चढाओ। द्रौपदी ने कहा कि मै तो प्रत्यक्ष पापिनी हू, मेरे पाच पति है। कृष्ण ने कहा– पाच पति तो प्रत्यक्ष ही है, इन पतियो के सिवा यदि मन, वचन से भी पाप न किया हो, तो फल को चढाओ। द्रौपदी विचार मे पड गई कि मैने मन से तो कर्ण को अपना पति बनाने का पाप किया है, परन्तु यह बात कैसे कहूँ? इस प्रकार की कमजारी से द्रौपदी ने अपना वह मानसिक पाप छिपा कर कहा कि यदि मैने पाच पति के सिवा मन से भी और पति न किया हो तो हे फल! तू ऊपर चढ जा, नही तो नीचे गिर जा। द्रौपदी के यह कहने पर फल ऊपर चढने के बदले और नीचे गिर गया। द्रौपदी बहुत लज्जित हुई। उसे चीरहरण के समय भी जितना दु ख न हुआ होगा, उतना दु ख उस समय हुआ। कृष्ण ने द्रौपदी से कहा– द्रौपदी यह फल तुम्हारे चारित्र की कैसी साक्षी दे रहा है! तुम अब भी सत्य कहो। द्रौपदी ने कहा– मैने दो पाप किये हैं। एक तो स्नान करते समय मैंने कर्ण को पति की तरह चाहने का पाप किया और दूसरा पाप इस समय पहले पाप को छिपाने का किया। इन दो पाप के सिवा और पाप नही किया। इस बात की साक्षी यदि आप कहे तो मै अग्नि या पानी मे गिर कर भी दे सकती हू। द्रौपदी की बात सुनकर कृष्ण ने कहा कि तुम मेरी भौजाई हो और सुभद्रा के नाते बहन भी हो, घबराओ मत। तुमने पाप की आलोचना करली इससे तुम्हारा पाप धुल गया। द्रोपदी घबरा कर रोने लगी। कृष्ण ने कहा– अब तुममे पाप नही रहा है, इसीलिये घबराने की

जरूरत नही है, यदि तुम्हे मेरी इस बात पर विश्वास न हो तो तुम परीक्षा के लिये फल को ऊपर चढने की आज्ञा देकर देख लो। द्रौपदी ने रोते–रोते फल को ऊपर चढने की आज्ञा दी। द्रौपदी की इस बार की आज्ञा से फल ऊपर चढकर डाली से लग गया। कृष्ण ने द्रौपदी को धन्य कहकर कहा कि बस, वनभोजन हो गया, चलो चले।

मतलब यह की द्रौपदी ने कर्ण की जरा–सी प्रशसा की थी। यदि उसने कर्ण की प्रशसा धर्म की दृष्टि से की होती तो दूसरी बात थी, परन्तु उसने कर्ण को पति बनाने की इच्छा से प्रशसा की थी। यह उसका कार्य पर–पति–प्रशसा हुआ और वह पाप माना गया। इसी प्रकार किसी मे सत्य हो और उसकी प्रशसा सत्य की अपेक्षा से की जावे, तब तो बात दूसरी है, परन्तु यह व्रत वीतराग का कहा है तो क्या और दूसरे का कहा है तो क्या? अपने को दूसरे के बताये हुए व्रत भी लेना, वे भी अच्छे है, इस रूप मे पर–पाखण्ड–प्रशसा करना अतिचार है।

5 परपाखण्डसंस्तव

परपाखण्ड प्रशसा नामक चौथे अतिचार की व्याख्या करते हुए 'परपाखण्ड' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। चौथे अतिचार मे प्रशसा को दोष बतलाया गया था ओर इसमे सस्वत को वर्जित किया गया है। 'सस्वत शब्द का अर्थ है–परिचय', सहवास से जो विशेष परिचय होता हे–साथ खाना, साथ पीना आदि वह सस्वत कहलाता हे। सम्यग्दृष्टि को परपाखण्डियो के साथ ऐसा परिचय नही रखना चाहिए।

परपाखण्डियो के सहवास मे रहने से, भोले लोग उनकी क्रियाओ को देखकर, सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विचलित हो जाते हे। देखादेखी से वेसी ही क्रियाए करने लगते हे ओर धीरे–धीरे सम्यक्त्व से गिर जाते हे। इसी दृष्टि से परपाखण्डियो के साथ परिचय करने का निषेध किया गया हे।

कहा जा सकता हे कि अगर परपाखण्डियो के साथ परिचय को भी आप वर्जित कर रहे है, तव तो हमे अलग से अपना ससार वसाना पडेगा। इस ससार मे रह कर तो वचना कठिन हे।

मगर मेरे कहने का आशय यह नही हे कि सम्यग्दृष्टि किसी के साथ परिचय ही न करे। यहा उन लोगा के साथ परिचय करने का निषेध किया

गया है, जो कपोलकल्पित सिद्धान्त को मानते है और समझाने पर भी अपने हठ को नही छोडते। बल्कि दूसरे का खडन और अपना मडन करने के लिए ही उद्यत रहते है।

एक पतिव्रता महिला ऐसी पतिव्रता के साथ ही परिचय करेगी जो उसके पतिव्रत धर्म के पालन मे सहायक हो सके। वह उसी की सगति करेगा। पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली किसी वेश्या के साथ अपनी घनिष्ठता स्थापित नही करेगी, क्योकि वेश्या उसके धर्म की विघातिका हो सकती है, सहायिका नही हो सकती।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी गुणीजनो की ही सगति करता है और अपने समकित के विघातक परपाखण्डियो की सगति को त्यागता है।

गुलिश्ता मे मैने एक कहानी पढी थी। एक बार बादशाह अपने स्नानगृह मे गया। वहा पडी हुई मिट्टी मे से एक प्रकार की सुगध आई। बादशाह ने अपने नौकरो से पूछा– इस मिट्टी मे ऐसी खुशबू कहा से आई?

नौकर बोले– हुजूर! यह मिट्टी बाग मे की है। इसके ऊपर फूल थे। उन फूलो की खुशबू इसमे आ गई है।

यह सुनकर बादशाह कहने लगा– वाह रे फूल ! तेरी भी बलिहारी है! तूने अपनी खुशबू इस मिट्टी मे डाली, पर इस मिट्टी की गध अपने अन्दर नही पडने दी।

यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय मे समाझनी चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि अपने धर्म की सुगध दूसरो के ऊपर डाल दे, उसको किसी से भी परिचय करने मे हर्ज नही है, परन्तु जिन पुरुषो पर दूसरे की छाप पड जाती है और जिसके कारण सम्यक्त्व मे डावाडोल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, उन्हे परिचय नही करना चाहिए।

श्रावक के भेद

मूलत श्रावक दो प्रकार के है– व्रती और अव्रती। दूसरे प्रकार से त्याग की मर्यादा के भेद से श्रावक आठ प्रकार के है। वे इस प्रकार हैं–

(1) दो करण तीन योग से त्यागी।
(2) दो करण दो योग से त्यागी।
(3) दो करण एक योग से त्यागी।
(4) एक करण तीन योग से त्यागी।
(5) एक करण दो योग से त्यागी।
(6) एक करण एक योग से त्यागी।
(7) उत्तर गुणधारी श्रावक, जिसमे भग नही है।
(8) अव्रती श्रावक, जो व्रत धारण नही करता किन्तु समकिती होता हे।

श्रावक के ये आठ भेद ही मूल भेद हे। शास्त्रकारो ने इन आठ के भी बत्तीस भेद बतलाये हे।

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ओर परिग्रहपरिमाण, ये पाच अणुव्रत हें। कोई श्रावक इन पाचो अणुव्रतो का पालन करता हे ओर कोई कम–ज्यादा का। पाचो व्रत लेने वाले भी सब समान रूप मे नही लेते, किन्तु ऊपर बतलाए हुए छ भगो मे से भिन्न–भिन्न भगो से लेते हे। कोई पाचो व्रत पहले भग के अनुसार, कोई दूसरे भग के अनुसार कोई तीसरे भग के अनुसार ओर कोई चोथे, पाचवे या छठे भग के अनुसार। इस प्रकार पूर्वोक्त छह भगो के आधार पर पाच अणुव्रतधारी के छह भेद होते हें। इसी तरह चार व्रत लेने वाले के, तीन व्रत लेने वाले के, दो व्रत लेने वाले के ओर एक व्रत लेने वाले के भी

छह–छह विकल्प होते है। इन सबका योग किया जाय तो 30 भेद होगे। इकतीसवा भेद उत्तरगुणधारी का और बत्तीसवा भेद अव्रती श्रावक का। इस प्रकार गणना करने के श्रावक के बत्तीस भेद होते है।

यहा यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि श्रावक मे समकित होना अनिवार्य है। जिसमे सम्यक्त्व वह होगा, वही श्रावक माना जा सकता है। सम्यक्त्व के अभाव मे श्रावकत्व नही रह सकता। जैसे मनुष्य मे कोई सम्राट् त्याग की मर्यादा के भेद त्याग की मर्यादा के भेद स त्याग की मर्यादा के भेद सट होता है, कोई राजा होता है, कोई मन्त्री होता है, फिर भी उन सब मे मनुष्यत्व होना अनिवार्य है। उसी प्रकार कोई श्रावक भले मूल–व्रतधारी हो या उत्तरगुणधारी, भले पाचो मूलगुणो का पालन करे या एक, दो, तीन, चार का, किन्तु उन सबमे सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

अणुवतों और महाव्रतों का सम्बन्ध

जैसे जल के अभाव मे कमल नही होता, उसी प्रकार श्रावकधर्म के अभाव मे साधुधर्म भी नही रह सकता। श्रावकधर्म रूपी जल की विद्यमानता मे ही साधुधर्म रूपी कमल विद्यमान रह सकता है।

आज कई श्रावक अणुव्रतो को जानते ही नही है और कई जानते–बूझते भी उनकी ओर से उदासीन हैं। इसी से साधुधर्म मे भी गडबड है। उदाहरणार्थ, श्रावको मे आवश्यक विवेक न रहने से साधुओ को भी शुद्ध आहार–पानी मिलने मे कठिनाई हो रही है। जब श्रावक ही मशीन का पिसा हुआ आटा और चर्बी मिला घी खाने लगे, तो साधुओ को शुद्ध आहार कहा से मिलेगा? श्रावक अगर रजोगुणी और तमोगुणी भोजन करने लगे तो साधुओ को सतोगुणी भोजन किस प्रकार प्राप्त होगा?

जिसके यहा खाने–पीने की व्यवस्था नही है, उसका मन भी शुद्ध रहना कठिन होता हे। मगर खेद हे कि लोग स्वाद के आगे विवेक को भूल जाते हैं।

प्राय लोग सीधी चीज लाने मे पाप से बचना मानते हे, पर एकान्त रूप से ऐसा समझना भूल है। कई बार सीधी चीज से अधिक पाप होता हे। छोटी सादडी मे ब्राह्मणो ने बाजार से मेदा लाकर हलुवा बनाया। उन्होने ज्यो ही मैदा सेक कर उसमे पानी डाला, वैसे ही बहुत–सी लटे पानी के ऊपर तिर आई। ब्यावर के सतीदासजी गोलछा सीधी चीज लाने के बहुत पक्षपाती थे। एक बार वे बाजार से पिसी मिर्च लाए। घर पर उस मिर्च को तार की छलनी से छाना तो उसमे से बहुत–सी लाल रग की लटे (इल्लिया) निकली। इस प्रकार कई लोग सीधा खाने से पाप से बच जाने का विचार करके ओर अधिक पाप मे पड जाते हें।

तात्पर्य यह है कि श्रावकधर्म और साधुधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रावको मे विवेक होगा तो साधु भी अपने धर्म का भलीभाति पालन कर सकेगे।

अणुव्रत और महाव्रत का सम्बन्ध कैसा है, यह बात एक उदाहरण देकर समझाता हू। किसी जगह कुछ लडके खेल खेल रहे थे। उनमे एक लडका वजीर का भी था। बादशाह ने अपनी लकडी से एक लकीर खीच दी और सब लडको से कहा– इस लकीर का बिना मिटाये छोटी कर दो तो जाने।

लडके सोच–विचार मे पड गये। बिना मिटाये लकीर छोटी हो तो कैसे हो? परन्तु वजीर के लडके ने बादशाह के हाथ से लकडी ली और उस लकीर के पास ही एक बडी लकीर खीच दी। बादशाह की खीची लकीर छोटी हो गई। तब उस लडके ने कहा– लीजिए, आपकी लकीर छोटी हो गई है।

बादशाह ने लडके की पीठ ठोक कर कहा– शाबास, बाप का सस्कार बेटे मे आता ही है।

मतलब यह है कि जैसे उन दो लकीरो मे छोटापन और बडापन सापेक्ष था, अर्थात् बडी लकीर होने से दूसरी छोटी कहलाई और छोटी होने से दूसरी बडी कहलाई, उसी प्रकार अणुव्रत और महाव्रत भी परस्पर सापेक्ष हैं। अणुव्रतो की अपेक्षा महाव्रत, महाव्रत कहलाते है और महाव्रतो के कारण अणुव्रत, अणुव्रत कहलाते है। अणुव्रत तभी होगे जब महाव्रत होगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलायेगे जब अणुव्रत होगे।

श्रावक की त्याग विधि

जव तक व्यावहारिक जीवन सुधरा हुआ न हो, तव तक ईश्वरीय तत्त्व की उपलब्धि कोरी बात ही बात है। उदाहरण के लिये– कागज पर लिखे हुए दस सेर कलाकद, पाच सेर जलेवी, वीस सेर पूडी ओर पाच सेर भाजियो से कितने आदमियो का पेट भर सकता है? कागज पर लिखी हुई इन वस्तुओ को चाटने से क्या किसी एक का भी पेट भर सकता है? 'नही'।

कहोगे कि यह तो सूचना मात्र हे। इसके अनुसार चीजो को लाने ओर खाने से ही भूख मिटेगी। ठीक हे, इसी प्रकार यहा भी शास्त्र मे ईश्वरीय तत्त्व की सूचना मात्र हे। इस सूचना के अनुसार ईश्वरीय तत्त्व को प्राप्त करने के लिए शास्त्रोक्त आचार की आवश्यकता हे। इसी उद्देश्य से श्रावकधर्म रूप वारह व्रत वतलाये हें।

वारह व्रत गृहस्थधर्म का आचार हें। गृहस्थ उसे कहते हें जिसके साथ घर, स्त्री, धन आदि लगे हे ओर गृहस्थधर्म के उपदेश का अभिप्राय यह हे कि गृहस्थ इन्ही सबमे फसा अपने जीवन को समाप्त न कर दे। ऐसा न हो कि वह आत्मकल्याण कर ही न सके। गृहस्थ ससार के वन्धन मे हे ओर इस वन्धन मे रहते हुए वह अपना कल्याण किस प्रकार कर सकता हे? यह वात शास्त्रकारो ने वहुत सरल रीति से समझाई हे। यद्यपि गृहस्थ एकदेश रूप से ही सयम का पालन कर सकता हे, फिर भी उससे भी आत्मा का कल्याण तो होता ह।

गृहस्थ श्रावक प्राय दो करण, तीन योग से अणुव्रता का पालन करता ह। यो तो पहले श्रावका के जो वत्तीस भेद वतलाये ह, उनम ओर भी विकल्प हे। परन्तु दो करण तीन योग से पापा का त्याग करने वाला श्रावक उच्च श्रावक कहलाता हे। यद्यपि प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक तीन करण ओर तीन

योग से भी अणुव्रतो का पालन करते है, मगर वे विरले होते है और उनकी त्याग विधि सभी गृहस्थ श्रावको को लागू नही हो सकती है।

श्रावक के दो करण, तीन योग मे शिष्टाचार रह जाता है, अर्थात् जो लोग हिसा आदि करते है, उनके साथ सम्बन्ध रखने का वह त्याग नही करता।

महाशतक श्रावक ने दो करण, तीन योग हिसा का त्याग किया था। उसके व्रत स्वीकार करने से पहले ही तेरह स्त्रिया थी। इन तेरह स्त्रियो मे से रेवती नामक स्त्री अत्यन्त क्रूर थी। एक बार रेवती ने सोचा– मेरी सौते मेरा पतिसुख बटा लेती है। ये पतिसुख मे विघ्न रूप है, अतएव किसी प्रकार इन्हे अपने रास्ते से हटा देना चाहिए। जब तक इनकी मृत्यु नही हो जाती, तब तक मै पूरी तरह पतिसुख नही भोग सकती।

महाशतक पति है, लेकिन उच्च श्रावक है और रेवती उसकी पत्नी है, जो अपनी सौतो के प्राण लेने को तैयार है। अन्तत उसने अपने विचार को कार्यरूप मे परिणत कर दिया। अपनी छह सौतो को विषप्रयोग से मार डाला और छह को शस्त्रप्रयोग से। वह उनके जेवर, धन और गौकुल आदि की मालकिन बन बैठी।

रेवती जैसी स्त्री मिल जाने पर श्रावकधर्मधारक पुरुष क्या कर सकता है? इस पर दृष्टिपात कीजिए। आज के लोग होते तो उस स्त्री को या तो मार ही डालते या घर से बाहर निकाल देते या जाति से बाहर कर देते। मगर उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महाशतक ने न उसे मारा और न घर से बाहर ही निकाला। महाशतक को अपनी स्त्रियो की मृत्यु का कारण ज्ञात न हुआ हो, यह बात असम्भव–सी मालूम होती है। यह कैसे सभव है कि जिसकी बारह स्त्रिया विष और शस्त्र से मारी जाए उसे कारण पता न लगे?

महाशतक ने दो करण, तीन योग से हिसा का त्याग किया था, अनुमोदना से त्याग नही था। वह जानता था कि इस ससार से निकल कर सर्वविरत साधु हो जाना बहुत अच्छा है, किन्तु जब तक ससार से निकल न जाऊ, तब तक श्रावकधर्म का पालन करना ही अच्छा है। गाडी को फेक देना दूसरी बात है और उसे खीच कर पार लगा देना दूसरी बात है।

आज के लोग हिसा को तो बुरा समझते है, परन्तु व्यभिचार को इतना बुरा नही मानते। हत्या करने वाले की तो लोग निन्दा करते है, परन्तु खुल्लमखुल्ला व्याभिचार करने वाले की वैसी निन्दा नही करते। लेकिन उस

समय मे व्यभिचार को हिसा से बुरा माना जाता था। रेवती पूर्णरूपेण पति–सुख चाहती थी, पर व्यभिचारिणी नहीं थी। अतएव महाशतक ने सोचा होगा कि मैने दो करण, तीन योग से हिसा का त्याग किया है, अत इससे सबध त्याग कर इसे घर से निकाल देने की अपेक्षा मुझे ही ससार त्याग देना योग्य है। पर मुझमे अभी ससार त्याग देने की शक्ति नही है। जब मैं ससार नही त्याग सकता तो रेवती को त्यागना भी ठीक नही है। यह अभी तो हिसिका है, घर से निकाल देने पर व्यभिचारिणी भी हो जायगी और तब दोनो कुलो को लजाएगी। इसमे मुझको ही चाहने का जो गुण है, उसी गुण को महत्त्व देकर घर मे रखना ही उचित है। बाहर निकाल कर इसका और अपना फजीता करने से कुछ लाभ न होगा। मेरे खयाल से, इसी प्रकार का विचार करके महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा।

महाशतक ससार से घबरा गया। वह दीक्षा तो न ले सका, किन्तु प्रतिमाधारी श्रावक बन गया। रेवती ने पुन सोचा– महाशतक ससार–व्यवहार से अलग हो गया है, अत पतिसुख तो मुझे फिर भी नही मिलता। किसी प्रकार पति को उसके व्रत–नियम से विचलित करू और फिर गृहस्थी मे लाकर ससार–सुख भोगू।

अगर रेवती पर–पुरुष को चाहने वाली होती तो अपने पति को डिगाने क्यो जाती? बल्कि वह तो यही सोचती कि अच्छा है, कटक दूर हुआ। परन्तु रेवती अपने पति को डिगाने गई, इससे स्पष्ट है कि वह महाशतक पर ही अनुरक्त थी।

रेवती विकराल रूप धारण करके वहा गई, जहा महाशतक ज्ञान–ध्यान मे लीन था। महाशतक को उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो चुका था। रेवती ने महाशतक से कहा– तुम्हे सभी प्रकार की भोग–सामग्री प्राप्त हे, फिर भी तुम खान–पान और भोग–विलास छोडकर यहा जिन्दगी नष्ट कर रहे हो।

यद्यपि रेवती का उपालभ विवेकहीन था, फिर भी महाशतक मोन रहा। रेवती ने तीन बार यही कहा, फिर भी वह क्षमा का सागर ही बना रहा। फिर भी रेवती न मानी। तब वह सोचने लगा– यह कुछ ओर सोचती हे, मे कुछ और सोचता हू। महाशतक ने उपयोग लगाया तो उसे मालूम हुआ कि रेवती मर कर रत्नप्रभा नरक मे चोरासी हजार वर्ष के लिए जाएगी। तब उसने रेवती से कहा– तू मर कर चोरासी हजार वर्ष तक नरकवास करेगी।

महाशतक के मुख से यह वात सुनकर रेवती समझी कि मेरे पति क्रुद्ध हो गये हं। वह कापती हुई वहा से हट गई।

भगवान् महावीर ने इस घटना को ज्ञान से जानकर कहा– गौतम! ससार मे अधेरा हुआ!

गौतम ने पूछा– भगवन्! आप ऐसा क्यो कहते है?

भगवान् ने कहा– महाशतक श्रावक ने सथारा–सलेखना लेकर किसी भी जीव को किंचित् भी कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की थी, अठारह पाप त्याग कर प्राणीमात्र को मित्र मान लिया था, फिर भी उसने रेवती को नरकवास से डरा दिया। उसने अवधिज्ञान का जो उपयोग किया, वह श्रावक को नही कल्पता।

भगवान् ने रेवती और महाशतक का पूरा किस्सा गौतम स्वामी को सुना कर कहा– गौतम! तुम जाओ और महाशतक को समझा कर कहो कि श्रावक को ऐसा करना नही कल्पता, अत अपने इस कृत्य के लिए आलोचना करो, निन्दा करो, घृणा करो। तब तुम्हारी आत्मा शुद्ध होगी।

जो गौतम स्वामी बुलाने पर भी, नरेन्द्र के घर भी नही जाते थे, वे भगवान् की बात सुनकर महाशतक श्रावक को पाप से छुडाने के लिए उसके पास गये। महाशतक ने गौतम स्वामी को वन्दना–नमस्कार करके कहा– भगवन्! आज आप बिना बुलाये ही पधार गए, यह बडी कृपा की।

गौतम स्वामी बोले– तूने अपराध किया है, इस कारण मै आया हू। तूने रेवती को मरणभय उत्पन्न किया है। ऐसा करना प्रतिभाधारी श्रावक की मर्यादा के विरुद्ध है।

गोतम स्वामी की बात सुनकर महाशतक ने आलोचना–निन्दा करके आत्मशुद्धि की।

मतलब यह है कि ससार के ऐसे कारणो से ही गृहस्थ श्रावक दो करण, तीन योग से व्रत स्वीकार करता है। ससार मे रहते अनुमोदन का पाप लग ही जाता हे, इस अनुमोदनाजनित पाप का भागी होने से वह तीन करण और तीन योग से भी व्रत स्वीकार नही करता।

दो करण, तीन योग से भी व्रत स्वीकार करने के विषय मे यह शका होती हे कि अणुव्रतो को दो करण, तीन योग से भी गृहस्थ किस प्रकार निभा सकता हे? परन्तु विचार करने से विदित होता हे कि दो करण, तीन योग से व्रत अगीकार करके भी श्रावक सुखपूर्वक अपना जीवनयापन कर सकता है। समझने–समझाने की अपूर्णता के कारण ही यह कहा जाता हे कि जन धर्म किसी विधवा या त्यागी से भले निभ सके, गृहस्थो से नही निभ सकता। वह तो चारो ओर के नियमो से जीवन को बाध लेता हे, लेकिन ऐसा समझना भ्रम

मात्र है। शास्त्र कहते हैं कि किसी वस्तु पर से आसक्ति हटाने के लिए त्याग किया जाता है और उस त्यागी हुई वस्तु पर फिर आसक्ति न हो, इस उद्देश्य से किवाड बन्द करने के समान, व्रत लिये जाते हैं।

आप कोई कीमती रत्न कमाकर लावे और उसे घर मे रखे। घर मे चोर आदि का भय हो तो क्या घर के किवाड नही लगाते? 'लगाते हैं'।

इसी प्रकार आत्मधर्म को पालने के लिए, जीवन मे अव्रत और गफलत रूपी चोर घुसे, इस अभिप्राय से व्रत लेकर सीमा बाध ली जाती है या व्रत रूपी किवाड लगा लिये जाते है।

कहा जा सकता है कि व्रतो मे बध जाना, कैद हो जाना, क्या उचित है? इसके उत्तर मे कहना चाहिए कि शास्त्रकारो ने गृहस्थधर्म और साधुधर्म, ऐसे दो धर्म बतलाये है। जिसकी भावना आत्मजागृति और भव भ्रमण से छूटने की हो, उसे तो ससार को सर्वथा त्याग देना चाहिए। आत्मकल्याण, ईश्वरोपासना और परमार्थ के लिए जो ससार को सर्वथा त्याग देता है, वह साधु या सन्यासी कहलाता है। अगर आप इस साधुधर्म को स्वीकार नही कर सकते तो महात्मा लोग आपको जबरदस्ती साधु बनाते भी नही है। क्योकि स्वतन्त्रता से किए गए जिस काम से सुख होता है, परतन्त्रता से करने पर उसी काम से दु ख होता है। स्वतन्त्रता से सेवा करने वाले को सेवा करने से रोको तो भी वह नही रुकेगा और परतन्त्रतापूर्वक सेवा करने के लिए सेवक को मारो तो भी वह सेवा नही करेगा, और यदि करेगा भी तो दुखी होकर। उदाहरणार्थ, एक बाई के बच्चे ने पाखाना कर दिया। अगर किसी दूसरी बाई से उसे साफ करने को कहा जाए तो उसे दु ख होगा। मगर उस बच्चे की माता बिना कहे ही सफाई कर देगी।

तात्पर्य यह है कि व्रतो को अगीकार करना अथवा न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर हे। कोई जबरदस्ती करके किसी को व्रत नही देता। ऐसी स्थिति मे व्रत अगर बन्धन हे तो भी वह स्वेच्छा से स्वीकृत बन्धन हे। अपने जीवन के श्रेयस् के लिए, आत्मा के उत्थान के लिए ओर अपने भविष्य को मगलमय बनाने कि लिए मनुष्य स्वेच्छा से कुछ बन्धन स्वीकर करता ही हे। ऐसा किये बिना न समाज की व्यवस्था स्थिर रह सकती हे ओर न जीवन का विकास ही हो सकता हे।

यह प्रश्न किया जा सकता हे कि जब हिसा बुरी हे तो श्रावक हिसा की अनुमोदना का भी त्याग क्यो नही करता? व हिसा करने वाले से परिचय रखना क्या नही त्यागता?

इसका उत्तर यह है कि श्रावक ने अभी अपने जीवन से सबधित मर्यादित हिसा त्यागी है, अभी ससार नही त्यागा है, वह पुत्र–पौत्र आदि के साथ जुडा है, उसके ममत्वभाव का छेदन नही हुआ है, अतएव वह हिसा करने वाले से परिचय रखना नही त्याग सकता। क्योकि सभव है, उसके आत्मीयजनो मे से ही कोई हिसा करे और वह उसको छोड न सके। इस सम्बन्ध मे महाशतक श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है।

धर्म का कथन सभी प्रकार के लोगो के लिए है। इस धर्म को बडे–बडे राजा–महाराजा भी धारण कर सकते है और बारह आने की पूजी से व्यापार करने वाला पूनिया जैसा गरीब श्रावक भी धारण कर सकता है। इस धर्म के आचरण के नियम सभी श्रेणियो के लोगो को ध्यान मे रखकर बनाये गये है। आत्मिक धर्म के लिए सभी को समान स्वतन्त्रता है। यही कारण है कि धर्माचरण की विधि मे व्यापक विचार से काम लिया गया है।

गृहस्थ श्रावक के पुत्र–पौत्र आदि उसकी नेश्राय मे रहते है, इसलिए उनके द्वारा की हुई हिसा से ससर्ग दोष ही नही लगता, किन्तु कभी–कभी उसके लिए प्रेरणा भी करनी पडती है। उदाहरणार्थ, दो करण, तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा– 'उठो, भोजन कर लो'। इस प्रकार कह कर उसने भोजन करने की प्रेरणा की, किन्तु खाने वाला यदि राज्याधिकारी हो और अभक्ष्य पदार्थ खावे तो क्या होगा? अगर उसके साथ सर्वथा सम्बन्ध त्याग दिया जाए तो क्लेश की वृद्धि होने की सभावना है। यदि वह कम पापी है तो, सम्बन्ध तोड देने पर उसका अधिक पापी होना भी सभव है। सबध रख कर तो उसे सन्मार्ग पर लाया जा सकता है।

मतलब यह है कि गृहस्थ होने के कारण श्रावको का इस प्रकार का सम्बन्ध बना रहता है। किसी अच्छे काम के लिए मनुष्यो से गति–अवरोध न हो, इसलिए तीसरा करण खुला रखा गया है। इससे पापी को भी काम मे लगाने मे कोई अडचन नही हो सकती।

यहा यह आशका हो सकती है। वह यह कि श्रावक के त्याग करने के 49 भग है। उनमे एक भग तीन करण, तीन योग से भी त्याग करने का हे। ऐसी दशा मे आपने दो करण, तीन योग से त्याग करने वाले को उच्च श्रावक क्यो माना? क्या ऐसा मानना सूत्रविरुद्ध नही है?

इसका समाधाना यह है कि तीन करण, तीन योग से वही श्रावक व्रत स्वीकार कर सकता हे, जो ससार त्याग कर प्रतिमाधारी बने। जो ससार मे बधा हुआ है वह तीन करण, तीन योग से व्रत को नही निभा सकता। हा, वह किसी खास प्रकार का त्याग तीन करण, तीन योग से कर सकता हे।

उदाहरण के लिए, स्वयभूरमण समुद्र के मच्छ मारने का तीन करण, तीन योग से त्याग करे तो उसे निभा सकता है। क्योकि वहा तक कोई मनुष्य पहुच ही नही सकता।

इस प्रकार गृहस्थ श्रावक किसी भी जाति मे रहकर स्थूल हिसा का दो करण, तीन योग से त्याग कर सकता है और श्रावकपन पाल सकता है।

गृहस्थाश्रम मे रहने वाला जाति को छोड नही सकता और न जाति के लोगो के लिए वह इस बात का ठेका ही ले सकता है कि जाति के लोग न स्थूल हिसा करेगे और न कराएगे। और जो हिसा करते–कराते है, उनके साथ सम्बन्ध रखने से अनुमोदन का पाप लगता ही है। इस बात को लक्ष्य मे रखकर गृहस्थ को दो करण, तीन योग से त्याग करना बतलाया है। इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के ससार–व्यवहार मे बाधा नही आ सकती।

यहा तक अनुमोदन करण को खुला रखने के कारणो पर विचार किया गया है। अब योगो के विषय मे भी थोडा समझ लेना चाहिए।

शास्त्रकार कहते है कि प्रत्येक करण के साथ मन, वचन और काय रूप योग का सम्बन्ध है। अर्थात्,

(1) हिसा करूगा नही, मन, वचन, काय से।

(2) हिसा कराऊगा नही, मन, वचन, काय से।

(3) हिसा का अनुमोदन करूगा नही, मन, वचन, काय से।

जिसने अनुमोदन करना नही त्यागा हे, उसके लिए अनुमोदन सम्बन्धी मन, वचन, काय भी खुले रहते हैं।

उदाहरणार्थ, किसी ने स्वय अपने लिए सोदा किया, किसी ने अपने लिए मुनीम से सोदा कराया ओर किसी ने सोदा करने वाले को सम्मति दी। यहा आप स्वय किये हुए और मुनीम से कराए हुए सोदे के हानि–लाभ को तो भोगेगे। किन्तु जिसे सलाह दी हे, उसके हानि–लाभ को नही भोगेगे। उसे सलाह देने के कारण आपको अनुमति का दोप अवश्य लगा हे, पर आपके दो करण, तीन योग से स्वीकार किये व्रत मे उससे कोई बाधा नही आई।

यहा एक बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि श्रावक विवेकवान् होता हे ओर समस्त पापो से पूरी तरह बचने की भावना भी रखता हे। अतएव जहा तक सम्भव होगा, वह पापो से बचने का ही प्रयत्न करेगा। वह वृथा उस परिस्थिति मे शक्य त्याग रूप पाप का आचरण नही करेगा। आशय यह हे कि धर्म के विशाल प्रागण मे सभी के लिये स्थान हे ओर जो जितना धर्म का आचरण करेगा ओर पाप से बचेगा वह उतना ही अपना कल्याण करेगा।

श्रावक और विवेक

शास्त्र, नीति और ससार—व्यवहार आदि सब मे विवेक ही को बडा माना है। विवेक के बिना कोई काम अच्छा नही होता। ऐसी दशा मे धर्म मे विवेक न रखने पर धर्म की बात कैसे ठीक हो सकती है? अविवेक के कारण धर्म की बात भी अधर्म का रूप ले लेती है और विवेक से अधर्म की बात या अधर्म का समझा जाने वाला काम भी धर्म रूप मे परिणत हो सकता है। सुबुद्धि प्रधान ने विवेक से गन्दे पानी को भी अच्छा बना लिया और राजा को प्रतिबोध देकर धर्मात्मा बना दिया। इसी तरह अविवेक से अच्छी वस्तु भी बुरी बना दी जाती है। जैसे प्रत्येक सासारिक काम मे विवेक की आवश्यकता है, ऐसे ही धर्म मे भी विवेक ही प्रधान है।

अल्पपाप और महापाप के विषय मे कई लोग मुझसे कहते है तथा पत्रो मे भी इसकी चर्चा चलती है। इससे कई गृहस्थो ने मुझसे कहा कि आपकी मान्यता क्या है? इसलिए आज मै अपनी मान्यता प्रकट करता हू।

कई लोग प्रश्न करते है कि हलवाई के यहा से सीधी चीजे लाकर खाने मे कम पाप है या घर मे बनाकर खाने मे कम पाप है? इसी तरह कपडे और मकान के लिए भी प्रश्न करते हैं? और कई तो यहा तक प्रश्न करने लगते हे कि हाथ से चमडा चीर कर जूता बनाना—पहनना ठीक है या सीधा खरीद कर पहनना ठीक है? जूते का प्रश्न तो शायद इसलिये किया जाता होगा कि जिससे इस तरह की बात सुनकर लोगो के विचार मेरे विरुद्ध हो जावे।

कई लोग तो मेरे विवेक विषयक कथन को यह रूप देते हे कि महाराज तो हाथ से रोटी बनाकर खाने का कहते है। ऐसा असत् रूप बना कर सावद्य उपदेश देने वाले बताते हैं। लोग पाप से बचना चाहते है और अपने समाज के लोग सावद्य उपदेश देने वाले को साधु नही मानते। अत मेरे विषय मे यह कहा जाता है कि महाराज तो सावद्य उपदेश देते हैं। इस तरह

के कथन का उद्देश्य तो यही हो सकता है कि लोगो का चित्त मेरी ओर से उतर जावे। लेकिन पूर्वजो का न मालूम क्या पुण्य है कि उन लोगो का इस तरह का आक्षेप करने पर भी लोगो का चित्त मेरी ओर से नही हटता है। फिर भी मैं आप से यह कहता हू कि किसी विषय मे शका अपने चित्त मे रहने देना ठीक नही है। शास्त्र मे शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि समकित के पाच अतिचार कहे हैं। अतिचार तो ओर व्रतो के भी है, किन्तु व्रतो के अतिचार से समकित के अतिचार वडे हैं। इसी से वहा 'पेयाला' शव्द शास्त्रकार ने जोडा है।

किसी वात की शका होने पर भी सकोच के कारण या किसी अन्य कारण से उस शका को न मिटाने से शका वनी ही रह जाती हे ओर हृदय मे शका रहने पर गीता मे भी कहा हे कि– 'सशयात्मा विनश्यति'। इस तरह शका रह जाने से हानि होती है।

सशय से होने की वात मैं ही नही कहता हू, किन्तु सभी कहते हैं। श्रद्धा को सवने महत्त्व दिया हे ओर कहा है कि 'श्रद्धामयोऽय पूरुष' अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है। जेसी श्रद्धा होती हे वेसा ही वह वन जाता है। इस तरह श्रद्धा को सवने महत्त्व दिया हे। शका से श्रद्धा मे दोष आता हे ओर जव श्रद्धा मे ही दोष आ जाएगा तव वचेगा ही क्या? इसलिये शका को मिटाने मे सकोच करने की जरूरत नही हे, शका को मिटाना ही चाहिए।

अव जो अल्पारम्भ–महारम्भ का प्रश्न हे, वह उन्ही के लिए हो सकता हे, जो सम्यग्दृष्टि ओर व्रती है। मिथ्यात्वी के लिये तो हो ही नही सकता। क्यो कि जहा वडा कर्ज लदा हुआ हे, वहा छोटे लेन–देन की गिनती ही क्या? जेसे 1–2–3–4–5 मे से वडी सख्या दस हजार की हे। जिस पर दस हजार रूप मिथ्यात्व का कर्ज लदा हुआ हे वहा पाच या पेंतालीस के लेन–देन की वात ही क्या की जा सकती हे?

जहा मिथ्यात्व का ही पाप सिर पर घूम रहा हे, वहा दूसरी वात करने की जरूरत ही नहीं रह जाती। परन्तु जो सम्यग्दृष्टि हे उनका तो इस वात का विचार रखनाही चाहिए कि अल्प पाप ओर महापाप केसे ओर कहा होता हे? मैं निश्चय से तो नहीं कह सकता कि यह काम अल्पपाप का हे और यह महापाप का है, परन्तु मै अल्प और महापाप के साथ विवेक को जोडता हू और यह कहता हू कि जहा विवेक हे वहा तो अल्प पाप हे और जहा विवेक नहीं है वहा महापाप है। मैने एकान्त पक्ष से कभी ऐसा नहीं कहा है, किन्तु यही कहा है कि अल्पपाप और महापाप विवेक–अविवेक पर अवलम्बित हैं।

जो काम महारम्भ से होता है वही काम विवेक से होने पर अल्पारम्भ से भी हो सकता है, और जो काम अल्पारम्भ से हो सकता है वही अविवेक के कारण महारम्भ का बन जाता है। इस पर मैं अपने ही अनुभव का उदाहरण देता हू। जब मेरी आयु करीब दस–बारह वर्ष की होगी, उस समय की बात है। जिस ग्राम मे मै उत्पन्न हुआ था, वह मक्कीप्रधान देश है। वहा मक्की पक जाय तब तो आनन्द मानते है और मक्की न पकने पर वर्ष खराब समझते हैं। उस ग्राम के बडे–बडे लोगो ने मिलकर गोठ करने का निश्चय किया। जिस देश मे जो चीज पैदा होती है वहा उसी चीज के खाने का रिवाज होता है, अत उन लोगो ने मक्की के भुजिये आदि बनाने का विचार किया।

मक्की के भुजिये बनाने के साथ ही भग के भुजिये भी बनाने का विचार हुआ। मेरे मामाजी ने मुझसे कहा कि बाडे मे भग के पौधे खडे है, उनमे से भग की पत्तिया तोड लाओ। उस समय भग के विषय मे आज की तरह का कायदा न था। इसलिए जगह–जगह उसके पौधे होते थे। मेरे ससार के मामाजी वहा प्रतिष्ठित माने जाते थे। राज्य मे भी उनका सम्मान था। धर्म का भी विचार रखते थे। सभवत चौविहार भी करते थे और प्रतिक्रमण भी प्राय नित्य किया करते थे।

उनके कहने पर मैं दौड गया और खोला (गोद) भर कर, जो करीब सेर–भर होगी, भग तोड लाया। मै कह चुका हू कि –वे धर्म का भी विचार रखते थे, इसलिए अधिक पाप के भय से डरना स्वाभाविक था। वे मुझसे कहने लगे कि इतनी भग क्यो तोड लाया? थोडी–सी भग की जरूरत थी? इस तरह थोडी–सी भग की जगह बहुत भग लाने के कारण उलाहना देने लगे। लेकिन वास्तव मे मेरा ही कसूर था या उनका भी? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी? मै बच्चा था, इससे मुझमे विवेक नही था और न उन्होने कहा था कि कितनी लाना? इस तरह न उन्होने विवेक दिया न बच्चा होने कारण मुझ मे विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यो होता?

इसलिए पत्ता तोडने का कार्य करने की बजाय, कराने मे अधिक पाप हुआ, क्योकि अपने हाथ से लाते तो जितनी आवश्यकता थी, उतनी ही लाते, अधिक नही।

विवेक न होने के कारण अल्पपाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत–से उदाहरण दिये जा सकते है। सेठ वरदभाणजी कहते थे कि में जगल गया। वहा नौकर से पानी भर लाने के लिये कहा। वह वनस्पति,

लीलोतरी, फूलण आदि कुचलता हुआ दौड गया और लोटा माज कर उसी मे धोकर जैसा–तैसा छाना–अनछाना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ? इसका कारण क्या है? क्या यह पाप करने वाले को ही हुआ? करवाने वाले को नही? यदि सेठ स्वय पानी भरने जाते और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे, लेकिन उन्होने नौकर को भेजा और उसने विवेक नही रखा। वह सेठ द्वारा भेजने पर ही गया था, इसलिए क्या सेठ को उसका पाप नहीं लगा? मतलब यह है कि इस तरह करने की अपेक्षा दूसरे से कराने मे ज्यादा पाप हो गया या नही? फिर भी किसी के मन मे कोई सन्देह की बात हो तो वह मुझको शान्ति से पूछ सकता है। मुझसे पूछने के विषय मे किसी तरह की कोई रुकावट नही है।

इस धर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और यह धर्म प्राय क्षत्रियो के पालने योग्य है। इस धर्म को राज्य करने वाले भी पाल सकते है। उदायन राजा सोलह देशो का राज्य करते थे, फिर भी अल्पारम्भी थे या महारम्भी? इतना राज्य करते हुए भी वे अल्पारम्भी रहे, इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वे श्रावक होने के कारण विवेक से काम लेते थे। इसी से भगवान ने विवेक मे धर्म बताया है। यदि विवेक मे धर्म न होता तो यह धर्म क्षत्रियो के पालने योग्य कदापि न रहता, किन्तु बनियो का ही रहता है। लेकिन आज इस धर्म का ऐसा रूप बना दिया गया है कि जिससे यह धर्म केवल बनियो के ही काम का मालूम होता है। विवेक रखते हुए राज्य करने पर भी राजा इस धर्म का भलीभाति पालन कर सकता है, और महारम्भी भी नही कहला सकता। इस तरह कभी करने मे ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने मे ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदन मे ज्यादा पाप हो जाता हे। लेकिन विवेक न रखने से कभी–कभी करने ओर कराने मे भी उतना पाप नही होता, जितना अनुमोदन से हो जाता है।

मान लीजिए एक राजा जैन है। उसके सामने एक ऐसा अपराधी आया कि जिसको फासी की सजा हो सकती थी। वह राजा सोचने लगा कि मे तो चाहता हू कि यह बच जावे तो अच्छा, किन्तु इसके अपराध की भयकरता को देखते हुए यदि इसको फासी की सजा न दूगा तो न्याय का उल्लघन होगा। इस तरह उसने न्याय की रक्षा के खातिर बडे सकोच के साथ उसको फासी की सजा दी। उसने फासी लगाने वाले को हुक्म दिया कि इसको फासी लगा दो। फासी लगाने वाला उस अपराधी को फासी लगाने ले चला वह भी अपने मन मे सोचता था कि यह फासी लगाने का काम बुरा है। म

लिखाया है, इसलिए अब काम करने के समय इनकार करना ठीक नही। राजा भी न्याय से बधा हुआ है। इसी से उसने यह हुक्म दिया है। अन्यथा वह भी ऐसे हुक्म न देना चाहता होगा, इसी तरह मै भी बधा हुआ हू, इसी से यह फासी लगाने का काम करता हू।

इस तरह विचारता हुआ वह अपराधी को फासी लगाने के लिये ले गया और फासी दी। वहा एक तीसरा आदमी खडा था। राजा ने तो पश्चात्ताप करते हुए फासी का हुक्म दिया था और लगाने वाले ने भी मजबूरन फासी लगाई थी, लेकिन उस तीसरे आदमी का कोई हुक्म नही चलता, फिर भी खडा अतिउमगवश हुक्म देता है कि क्या देखता है? इसको फासी लगा दे। इसको तो फासी देना ही ठीक है। लटका दे, देर मत कर।

अब इन तीनो मे ज्यादा पाप किसको हुआ? राजा और फासी लगाने वाला फासी देकर भी फासी के काम की सराहना नही करते है, लेकिन वह आदमी मुफ्त मे ही फासी लगाने के काम की सराहना करके अनावश्यक आज्ञा देकर महापाप कर रहा है।

फासी लगाने की जगह पर और लोग भी देख रहे थे। उनमे से जो विवेकी थे, वे तो सोचते थे कि यह बेचारा पाप के कारण ही फासी पर चढ रहा है। यदि इसने यह भयकर पाप न किया होता तो इसको फासी क्यो लगती? अपने को भी ऐसे पाप से बचना चाहिए। लेकिन जो अविवेकी थे, वे कहते थे कि अच्छा हुआ जो इसको फासी लगी। यह बडा ही दुष्ट था, पर चतुर नही था। हम कैसे चतुर है कि अपराध भी कर लेते है और राजा को खबर भी नही होने देते। हमारा कार्य किसी भी तरह से प्रकट ही नही होने पाता। हम वकील तो क्या, बडे–बडे बैरिस्टरो और राजा को भी घोलकर पी जाते हैं। सबको छका देते हैं। लोग धर्म की बात कहते हैं, लेकिन हम ऐसे हे कि धर्म को न मानने पर भी आराम मे हैं।

इन दोनो तरह के विचार वाले दर्शको मे से महापापी कौन और अल्पपापी कौन हुआ? इन दोनो तरह के विचार वाले दर्शको मे से अविवेकी दर्शको ने महापाप बाधा या नही? मैं यह नही कहता कि कराने से ही महापाप होता है और करने से नही, या करने से ही महापाप होता है, कराने से नही। मै तो यह कहता हू कि जहा अविवेक हे वहा महापाप है ओर जहा विवेक है वहा अल्पपाप हे। यह बात मैं और उदाहरण देकर भी बताता हू।

एक डाक्टर चीर–फाड का काम जानता है, लेकिन वह कहता है कि मुझे घृणा आती है, इस कारण मै तो आपरेशन नही करता, और ऐसा कह कर वह कम्पाउण्डर से ऑपरेशन करने के लिये कहता है। कम्पाउण्डर अनाडी है, होशियार नही है। ऐसी हालत मे वह डाक्टर स्वय अपने हाथ से आपरेशन न करके कम्पाउण्डर से कराए तो उस डाक्टर को कराने मे ही महापाप लगेगा। एक दूसरा डाक्टर, जो स्वय ऑपरेशन करना नही जानता या कम जानता है, वह जानने वालो से कहे कि तुम आपरेशन करदो तो उसको कराने मे भी अल्पपाप ही लगेगा। आपरेशन तो उसने भी कराया और उसने भी। स्वय तो दोनो ने नही किया, परन्तु पहले डाक्टर का तो महापाप लगेगा और दूसरे को अल्पपाप लगेगा। इसी तरह कोई तीसरा आदमी स्वय आपरेशन करना जानता नही है, लेकिन जो जानता है उसे रोक कर स्वय ऑपरेशन करे तो उसको महापाप होगा। ऐसे आदमी का किया हुआ ऑपरेशन कदाचित् सुधर भी जावे तब भी सरकार उसको अपराधी ही मानेगी कि उसने न जानते हुए भी आपरेशन किया। उस पहले डाक्टर के कराने पर भी महापाप लगा, दूसरे के कराने पर भी अल्पपाप लगा और तीसरे को स्वय करने पर भी महापाप लगा। इसका कारण यही हे कि इन तीनो मे विवेक का अन्तर है। इस तरह सरकार भी उस डाक्टर को अपराधी मानती है जिसने न जानते हुए भी आपरेशन किया हे, यद्यपि उसका आपरेशन सुधर गया है, फिर भी विवेक उसमे नही है। इस तरह धर्म मे भी विवेक को देखने की परमावश्यकता है ओर देखिए–

एक वाई विवेकरहित हे ओर एक विवेकवती हे। विवेक वाली बाई विचार करे कि रोटी बनाने मे पाप लगता हे, परन्तु रोटी खाने ओर कुटुम्बियो को खिलाने की जवाबदारी से मुक्त नही हे। वह उस विवेकरहित वाई को रोटी बनाने के काम मे लगाती हे। वह अविवेकवती होने के कारण आग तत्त्व ओर उसकी शक्ति को नही जानती थी। इस कारण असावधानी से उसके कपडे मे आग लग गई, वह मर गई। उसके मरने से वह विवेक वाली वाई प्रसन्न होगी या अप्रसन्न? वह सोचेगी कि मेने इसको कहा रोटी बनाने को वेठा दी? यदि मं ही विवेक से करती तो यह अनर्थ नही होता। अव कहिये उसको कराने मे अधिक पाप हुआ या वह स्वय विवेकपूर्वक करती तो ज्यादा होता? इसी तरह एक बहिन स्वय तो विवेक रखती नही, परन्तु उस विवेक वाली को न करने दे ओर आप खुद करने बेठे तो करने मे अधिक पाप हुआ या नही?

इस तरह जहा विवेक है वहा तो करने मे भी अल्पपाप है और कराने मे भी अल्पपाप है, पर जहा विवेक नही है वहा करने मे भी महापाप है और कराने मे भी महापाप होता है। इस प्रकार विवेक होने से महापाप के काम अल्पपाप से भी हो सकते है और विवेक न होने से अल्पपाप के काम भी महापाप के बन जाते है। यह तो विवेक की बात हुई।

अब करने, कराने और अनुमोदन मे से किसमे पाप अधिक हो सकता है, यह देखिए। आप स्वय हाथ से आरम्भ करने लगे तो कितना भी करे, वह होगा मर्यादित ही। लेकिन कराने मे तो लाखो–करोडो से भी करने के लिए कहा जा सकता है। करने मे तो दो ही हाथ रह सकते है, लेकिन कराने मे तो लाखो–करोडो हाथ लग सकते है, करने का तो समय भी मर्यादित ही होगा, परन्तु कराने मे तो समय का भी विचार नही रह सकता। करने का तो क्षेत्र भी मर्यादित रहेगा, परन्तु कराने का क्षेत्र भी बहुत होता है। इस तरह करने का तो द्रव्य भी मर्यादित रहता है, क्षेत्र भी मर्यादित रहता है और काल भी मर्यादित रहता है, परन्तु कराने का तो द्रव्य भी बहुत है, क्षेत्र भी बहुत है और काल भी बहुत है। इस कारण स्वय करने की अपेक्षा कराने मे पाप ज्यादा खुला हुआ है। अब अनुमोदन को लीजिए– काम कराने मे भी कोई व्यक्ति चाहिए ही, परन्तु अनुमोदन तो यहा बैठे हुए ही सारे जगत् के पापो का कर सकते हो। मैने बडो के मुह से इस विषय मे एक उदाहरण भी सुना है। वे कहा करते थे कि एक आदमी ने महल बनवाया तो भी वह आरम्भ की सहराना नही करता, किन्तु डरता है। लेकिन उस महल को देखने वाला कहता कि यह महल कैसा अच्छा झुकाया है। अमर नाम कर दिया हे इत्यादि। तो महल बनाने वाला तो अल्पपापी ही रहा, किन्तु उसका अनुमोदन करने वाले महापापी हुए।

विलायती कपडा यहा नही बनता, लेकिन यहा बैठे हुए ही वहा के काम की अनुमोदना कर सकते हो। आजकल तो समाचार पत्रो मे विज्ञापन भी बहुत निकला करते है। उनको देखकर यह कह सकते हो कि यह हमको नही मिला परन्तु बडा अच्छा है। इस तरह यहा बैठे हुए ही विलायत मे होने वाले काम का अनुमादन कर सकते हो। इस तरह अनुमोदन का द्रव्य, क्षेत्र, काल करने और कराने से भी बढ कर होता है। अनुमोदन का पाप ऐसा होता है कि बिना कुछ किये ही महारम्भ का पाप हो जाता है। जैसे श्री भगवतीजी सूत्र के चौबीसवे शतक मे कहा है कि अगुल के असख्यातवे भाग की अवगाहना वाला तदुलमच्छ, जो मगरमच्छ की आख के भापणा पर उत्पन्न

होता है, मर कर सातवी नरक गया। उसने ऐसा क्या किया था? इसके लिये कहा जाता है कि बडे मगरमच्छ का मुह खुला हुआ था। उसके मुह मे अन्य मछलिया श्वासोच्छ्वास की क्रिया से जाती थी और वापिस निकल जाती थी। वह तन्दुलमच्छ यह देख कर सोचता था कि यह मगर केसा मूर्ख है जो अपने मुह मे आई हुई मछलियो को वापिस निकलने देता है? यदि इसकी जगह मै होता तो एक भी मछली को बाहर न निकलने देता, सबको खा जाता। जब कि वह ऐसा कर नही सकता है, फिर भी मर कर सातवी नरक मे गया। इस तरह करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का क्षेत्र बडा है।

पूज्यश्री उदययागरजी महाराज से सुना हुआ यह स्तवन मुझे याद है–

जीवडा मत मेले रे यो मन मोकलो, मन मोकलडे रे हाण।
जिन हीज नयणे रे निरखे सुन्दरी तिन हीज बेनड जाण।
पुन्यतणे परिणामे विचारतो मोटी निपजे रे हाम।।

यह पुराना भजन है। इसमे बताया है कि रक्षाबन्धन आदि त्योहार पर बहन पहन–ओढ कर अपने पितृगृह जाती है। वह जवान है, सुन्दरी है, श्रृंगारयुक्त है। भाई उसको जिन आखो से देखता है, उन्ही आखो से अपनी स्त्री को देखता है, किन्तु इन दोनो के देखने मे अन्तर है या नही? यदि अन्तर हे तो आखो मे हे या मन मे? आखे तो किसी को बहन या स्त्री बनाती ही नही, मन ही बनाता है। वही स्त्रिया जब किसी महात्मा के सामने जाती हैं तब वे उनको बहन ही मानते हे।

इस तरह यह मन पाप भी पेदा करता हे ओर पुण्य भी। इसीलिये कहा जाता हे कि इसे सकोच कर रखो! पाप और पुण्य का कारण मन ही हे। कहा भी है 'मन एव मनुष्याणा, कारण बन्ध मोक्षयो' अर्थात् मन ही मनुष्यो के बध और मोक्ष का कारण है। इस तरह काया से न करने पर भी जीव मन के द्वारा कर्मबन्ध कर लेता है।

कोई कह सकता हे कि जेन धर्म मे तो तन, वचन, काया, इन तीनो को ही कर्मबन्ध का कारण कहा हे। फिर मन ही को पाप का कारण केसे बता रहे हो? इसका उत्तर यह हे कि वचन ओर काय के साथ भी तो मन रहता हे। किन्तु इस समय में मुख्यतया मन का ही वर्णन करता हू अत मन ही के लिये कहता हूँ। आप देखते बहन को भी हं ओर स्त्री को भी। फिर भी मन के भावो से ही पाप ओर पुण्य का बध होता हे। यह बात मनुष्य की हुई। अब पशु को भी देखिये। बिल्ली किसी जगह अपने बच्चो को तकलीफ मे देखती हे तब उनको वहा से हटाने के लिये पहले जाकर स्थान देख आती

है। फिर उन बच्चो को मुह मे उठा कर ले जाती है। वे बच्चे उसके मुह मे दबे हुए अज्ञानता के कारण चूचा करते है, फिर भी आप उन बच्चो को छुडाने के लिये क्या दौडते है? क्यो नही दौडते? आप जानते है कि ये इसके बच्चे है। इसके भाव मारने के नही है। समझ लो कि वह बिल्ली बच्चा रख आई और इतने मे ही उसके सामने चूहा आया। उसने चूहे को पकड लिया। वह चूहा भी उसके बच्चो की तरह उसी के मुह मे दबा हुआ चूचा करने लगा। तब क्या आप उसको छुडाने के लिए नही दौडते है? क्यो दौडते है? इस कारण कि बिल्ली के मन मे बच्चो को मारने के भाव तो नही थे, लेकिन चूहे को मारने के भाव है। बिल्ली सारे ससार के चूहो को नही मार सकती, फिर भी वह ससार के सब चूहो की बैरन मानी जाती है, क्योकि उसके भाव चूहो को मारने के है। वह भाव कहा है? मन मे ही है ना। इस तरह मन ही पाप का कारण है। मन बडा शैतान है, इसके लिए शास्त्र का प्रमाण भी है।

श्रीभगवती सूत्र मे श्रीगौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर स्वामी फरमाते है कि जिस पुरुष ने किसी को मारने का सकल्प करके धनुष चढा कर उसको कान तक खीचकर बाण छोडा। उस समय उस पुरुष को कायिकी आदि पाचो क्रियाए लगती है, क्योकि उसने सकल्प करके बाण चढाया था व छोडा था, इसलिए उसको पाचो ही क्रियाए लगती हैं। भगवान महावीर आगे फरमाते है कि बाण छोडने मे धनुष, जीव, बाण आदि जिन पदार्थों का सयोग मिला है, यह धनुष आदि भूतकाल मे जिन वनस्पत्यादि जीवो के शरीर से बने है और वे वर्तमान जिस गति मे हैं, उन जीवो को भी पाचो ही क्रिया लगती है, और जहा सकल्प नही है वहा चार बताई है। वही बाण आकाश से नीचे गिरते हुए अन्य जीवो की हिसा करे तो उस समय उस बाण व लकडी आदि के जीवो को तो पाच क्रियाए बताई हैं और जिसने बाण छोडा था उसे तथा धनुष के जीवो को चार क्रियाए बताई है, क्योकि उसका सकल्प उन जीवो को मारने का नही था, अत उसे चार ही क्रिया बताई गई हे और बाण, भाले आदि के जीवो को पाच क्रियाए बताई है। इसका कारण यह है कि निमित्त उनके शरीर का है, जिसके द्वारा हिसा होती है। यह बात भगवती सूत्र के पाचवे शतक के छठे उद्‌देशे मे कही है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो पाप केवल हम करे वही लगे, जो न करे वह विशेष नही लगता, यह बात नही है।

कहने का साराश यह है कि किसी समय करने मे पाप ज्यादा होता है, और कराने मे कम होता है। कभी कराने मे ज्यादा। यह बात विवेक–

अविवेक पर निर्भर है। हा, यह अवश्य है कि करने की अपेक्षा कराने का द्रव्य, क्षेत्र काल ज्यादा है और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का ज्यादा है, उसी तरह पुण्य और धर्म के लिए भी है। फिर भी प्रत्येक काम मे विवेक की आवश्यकता है। विवेक न होने पर अविवेक के कारण धर्म का पाप और अल्पारम्भ का महारम्भ भी हो जाता है।

कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि जब पाप का कारण अविवेक ही ठहरे तब यदि करने वाला और जिससे कराया जावे, वे दोनो ही विवेकी हो और उस दशा मे स्वय न करके उस दूसरे से, जो कि विवेकी है, कराया जाय तो क्या हर्ज है? उस दशा मे तो कराने मे ज्यादा पाप न होगा? फिर तो चाहे कराया जावे या किया जावे तो समान ही होगा। इसका उत्तर यह कि विवेक आसरी तो कराने मे ज्यादा पाप न लगेगा, लेकिन कराने मे, करने की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल ज्यादा खुला हुआ है, उसका पाप तो ज्यादा लगेगा ही। इस विषय मे विशेषत विवेक और मन के भावो से ही अधिक जाना जा सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम सामायिक मे बैठते है तब करने और कराने का ही पाप त्यागते हैं। जब अनुमोदन का पाप ज्यादा है, तब उसका त्याग क्यो नही करते? बडे पाप का त्याग क्यो नही किया जाता? इसका उत्तर यह हे कि अनुमोदना का पाप त्यागने की शक्ति न होने के कारण ही इसका त्याग नही कराया जाता। प्रत्येक काम अपनी शक्ति के अनुसार ही होता है।

भगवान ने अनुमोदन का त्याग करने की शक्ति नही देखी, इसलिए उसका त्याग नही बताया है। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि करने ओर कराने के पाप से अनुमोदन का पाप छोटा हे। आप गृहस्थ होने के कारण अनुमोदना के पाप से बच भी नही सकते। जेसे आप सामायिक मे बेठे हे। उस समय आप करने–कराने का त्याग तो करके बेठते हे, लेकिन आपके घर पर व दुकान आदि का जो काम हो रहा हे क्या उसका भी त्याग करते हे? इस कारण अनुमोदना का त्याग केसे कर सकते हे?

इस प्रकार दुराग्रह का त्याग करके शास्त्र के विधान को दृष्टि मे रखते हुए सत्य को समझने का प्रयत्न करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य हे।

अहिंसाणुव्रत

1. सब जीव सुख चाहते हैं

मनुष्य–प्राणी, ससार के तमाम जीवो मे महाबुद्धिशाली माना गया है। यह प्राणी स्व–पर का जितना ज्ञान कर सकता है, उतना और कोई भी प्राणी नही कर सकता। जिस प्रकार यह अपने सुख–दुख का ज्ञानी होता है, उसी पकार इसमे यह भी ताकत है कि यह दूसरे प्रणियो के सुख–दु ख का भी ज्ञान प्राप्त कर सके।

वैसे तो हर एक मनुष्य को यह ज्ञान किसी अश तक प्राप्त है, पर सर्वांश मे उन्ही महापुरुषो को प्राप्त होता है, जो तीर्थंकर तथा सर्वज्ञ कहे जाते है। साधारण मनुष्य, ज्यादा–से–ज्यादा अपनी चक्षु–इन्द्रिय आदि की स्थूल शक्ति जहा तक काम कर सकती है, वहा तक किसी वस्तु के बारे मे ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थंकर या सर्वज्ञ कहे जाने वाले महापुरुषो मे वह शक्ति होती है कि दृष्ट–अदृष्ट तमाम वस्तुओ की, अर्थात् जीव–अजीव की अन्त तक की असलियत का ज्ञान रखते हैं। इसलिए शास्त्रकार उनको खेयन्ने (खेज्ञ) का विशेषण देते हैं।

यह तो आप जान ही गए होगे कि जीव और अजीव कहने मे ससार की तमाम वस्तुओ का ग्रहण हो जाता है। तीर्थंकर प्रभु व सर्वज्ञो ने हमे ज्ञान कराया है कि 'समस्त जीव, सुख के अभिलाषी हैं, कोई भी दु खी को पसन्द नही करता।'

ससार के जीवो की इतनी विचित्र जातिया हैं कि हम उनकी गिनती नही कर सकते। अतएव प्रभु ने हमे इन तमाम जीवो के मोटे पाच भाग कर

सब का बोध करा दिया है। वे पाच भाग ये हैं– 'एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय।'

अर्थात् एक इन्द्रिय वाले जीव, दोइन्द्रिय वाले जीव, तीन इन्द्रिय वाले जीव, चार इन्द्रिय वाले जीव और पाच इन्द्रिय वाले जीव।

पृथ्वीकायिक, अपप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति आदि, जिनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है, उनकी एकेन्द्रिय जीवो मे गिनती है। जिनके स्पर्श और रसेन्द्रिय हो, उनकी बेइन्द्रिय जीवो मे गिनती है। जैसे कृमि आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण तीन इन्द्रिय हो, उनकी त्रीन्द्रिय जीवो मे गिनती है, जैसे चीटी आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु–इन्द्रिय हो उनकी चौइन्द्रिय जीवो मे गिनती है, जैसे मक्खी आदि। जिनके स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र हो, उनकी पचेन्द्रिय जीवो मे गिनती है, जैसे देवता, मनुष्य, तिर्यंच, नारक आदि।

जल मे जीव है, यह बात आज के साइन्स ने पूर्णरीति से सिद्ध कर दी है। हम आखो से नही देख सकते, पर वैज्ञानिको ने यन्त्रो के द्वारा, जल की एक बूद मे छत्तीस हजार चार सौ पचास जीव बतलाये है, पर ये जल के जीव नही, ये तो त्रसजीव है। जल, खास तौर पर स्थावर योनि के जीवो का पिण्ड हे। इससे निश्चय हो गया है कि जैन सिद्धान्त सत्य ही है।

जिस प्रकार कई लोग जल मे जीव नही मानते, वैसे ही वनस्पति मे भी नही मानते, पर विज्ञान के बल से अब यह सन्देह मिटता जा रहा है। वेज्ञानिको ने इनमे जीव होना सिद्ध कर दिया है। विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बसु का नाम आप लोगो ने सुना होगा। ये ससार के बहुत बडे वैज्ञानिका मे गिने जाते है। इनका यूरोप, अमेरिका आदि देशो मे बडा मान किया जाता है। ससार के कई धुरन्धर वेज्ञानिक इनको अपना गुरु मानने मे सोभाग्य समझते हे। इन्होने 'वनस्पति मे जीव हे'– इसका प्रयोग मुम्बई मे करके बतलाया था। सुना गया हे कि दर्शको की फीस 40 रु थी। लोकमान्य तिलक इस जलसे के प्रेसीडेन्ट थे। लोगो की भीड बहुत ज्यादा थी। 40 रू टिकट के देने पर भी लोगो का जगह नही मिलती थी। जगदीश बाबू जिस समय अपना प्रयोग दिखाने लगे। उस समय सामने की लाइन मे पोधो के गमले रखे। उन गमलो के आगे की तरफ काच के वडे–वडे तख्ते लगाये। फिर सूक्ष्म–दर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर सजाकर, उपस्थित जन–समुदाय से कहा कि आप लोग सामने देखिये, मे इन पोधो को खुश करता हू। इतना कह कर बसु बाबू पोधो का हर्षोत्पादक शब्दो म सम्बोधन कर उनकी तारीफ करने लगे। ज्यो–ज्यो तारीफ करते गये त्यो–त्यो वे पोधे, जेसे किसी आदमी

की स्तुति करने पर वह आदमी खुश होता है, उसी प्रकार खुश होकर फूलने लगे। पर जब इन्होने उनकी निन्दा करनी शुरू की, उनके लिए खराब शब्द प्रयोग करने लगे, तो वे पौधे मुरझाने लगे। लोगो को बडा आश्चर्य हुआ। उनको विश्वास हो गया कि वृक्षो मे जीव होता है।

बसु बाबू इतना ही करके न रह गये, पर उन्होने, वृक्षो मे स्नायु–जाल है और यह मनुष्य की तरह स्पन्दित होता है, इसको भी सिद्ध कर बतलाया।

वैज्ञानिको ने जिस प्रकार वनस्पति मे जीव सिद्ध किया है, उसी प्रकार धातुओ मे भी सिद्ध किया है।

ये एक–दो प्रयोग 40 रु खर्च करने पर मालूम पडे, आप जैन–सिद्धान्त के लघुदडक नामक एक थोकडे को सीख कर साइन्स का बहुत विज्ञान प्राप्त कर सकते है।

इनका साइन्स अभी अपूर्ण है, पर हमारे अरिहन्तो का साइन्स बहुत बढा–चढा है। वहा पहुचने मे इन वैज्ञानिको को न जाने कितना समय लगेगा। इन्होने अभी एक अश की ही खोज की है, पर हमारे शास्त्रो ने वनस्पति का शरीर, अवगाहना, कषाय, सज्ञा, लेश्या, वेद, ज्ञान, योग, स्थिति और गतागति आदि का भी वर्णन कर दिया है। ये शास्त्र, आजकल के प्रयोगो को देखकर नही लिखे गये, पर हजारो वर्ष पूर्व के लिखे हुए है।

वनस्पति मे एक इन्द्रिय मानी जाती है। कई भाई शका कर सकते है कि जब इनमे एक इन्द्रिय है, कान आदि तो है ही नही, फिर निन्दा–स्तुति का ज्ञान किस प्रकार करते होगे? इस विषय मे 'आचाराग', 'विशेष आवश्यक सूत्र' तथा 'ठाणाग–सूत्र' की टीका मे बहुत अच्छा खुलासा किया गया हे, वहा देखना चाहिए।*

हाल के विज्ञान ने वनस्पति, जल आदि मे जीवो की सत्यता प्रकट की, पर अग्नि, वायु आदि मे अभी तक नही कर सका। इससे हमको निराश न हो जाना चाहिए। क्योकि हम पहले ही कह चुके है कि यह अभी तक अपूर्ण हे। सम्भव है, यह अपनी इसी प्रकार की कोशिश के बल से, किसी दिन इस सत्य तक भी पहुच जाए।

तात्पर्य यह है कि जब वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव भी सुख–दु ख का अनुभव करते हे और दु ख को न चाह कर सुख को पसन्द करते है, तव अन्य प्राणी भी सुख ही चाहते हें। इसमे क्या सन्देह हो सकता है?

---

* वहा एकेन्द्रिय जीवो के भी भाव–रूप पाचो इन्द्रियो का क्षयोपशम बतलाया है। उपकरण इन्द्रिय एक ही होने से उन्हे एकेन्द्रिय कहा हे।

मित्रो! क्या उन महापुरुषो की वाणी अपने अकेले के लिए ही है? नही–नही। जैसे वृक्ष के फल हर एक के लिए हैं, वैसे ही शास्त्र हर एक के लिए है– उनसे हर एक तिर सकता है।

आप कह सकते है कि सिद्धान्त किसका सत्य मानना चाहिए? ससार मे जैन, वैष्णव, क्रिश्चियन, मुसलमान, सभी के सिद्धान्त प्रचलित हैं और सभी यही मानते है कि हमारे सिद्धान्त को मानो तो तिर जाओगे। ऐसी दशा मे किस सिद्धान्त पर चलना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जो सिद्धान्त आत्मसाक्षी से पूर्ण हो, अर्थात् जिसके लिए स्वय अपनी आत्मा भी गवाही देता हो और जिससे इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो, ऐसे राग–द्वेष रहित एव वीतराग द्वारा कथित सिद्धान्त को, सत्य समझना चाहिए।

बडे–बडे ग्रन्थो मे जो बाते है, महात्मा पुरुषो ने अपने लिए थोडे शब्दो मे उनका सार कह दिया है कि–

अहिसा परमो धर्म ।

तुलसीदासजी ने भी इस बात को एक दोहे मे स्पष्ट किया है–

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाडिये, जब लग घट मे प्राण।।

धर्म का मूल क्या है? दया।

दया किसलिए? दया क्यो समझनी चाहिए? क्या जेनशास्त्र कहता हे इसलिए? या वेदान्त या वैष्णव कहते हैं इसलिए? नही, इसलिए कि वह धर्म का मूल हे।

2 हिसा

हिसा पाप क्यो हे? यह प्रश्न ओर किसी से न पूछो। अपने आत्मा से ही पूछो। दया, आपको क्षण–क्षण मे नजर आएगी ओर वह जरूरी हे, इसीलिए धर्म का मूल मानी गई हे। इसके लिए शास्त्र के प्रमाण की कोई जरूरत नही, किन्तु अनुभव–प्रमाण अथवा आत्म–प्रमाण से ही इसकी सत्यता जानी जा सकती हे।

आपके सामने एक आदमी चमकती हुई नगी तलवार लेकर खडा हे और वह आपको मारना चाहता हे। दूसरा मनुष्य आपकी रक्षा की चेप्टा करता

हुआ, उसे इस बात का उपदेश देता है कि प्यारे! इसको क्यो मार रहा है? वह जवाब देता है कि 'इसे मारना मेरा धर्म है, मनुष्य की हत्या करने से पुण्य होता है, ऐसा मेरा शास्त्र कहता है।' बतलाइये, इन दोनो मे से आपको प्यारा कौन लगेगा?

'रक्षा करने वाला।'

जो मनुष्य तलवार के द्वारा आपके जीवन का अन्त करना चाहता है, वह यह कृत्य करता तो है अपने शास्त्र के अनुसार ही, पर आप उस शास्त्र को कैसा मानेगे?

'वह शास्त्र नही, बल्कि शस्त्र है।'

क्यो? इसलिए कि वह अपने आत्मा के विरुद्ध है। बस, आत्मा के विरुद्ध जो–जो बाते हो वे ही धर्म अधर्म है। उनको करना पाप है। इसलिए उन कार्यों की मनाही की गई है। महाभारत के अन्दर भीष्म पितामह ने यह बात कही है–

आत्मन· प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

मित्रो! दया केवल मनुष्यो मे ही नही होती, परन्तु उसका किचित् बाह्यरूप दूसरे प्राणियो मे भी देखने मे आता है। सिहनी, दूसरो पर देखते ही हमला करती है, लेकिन क्या वह अपने बच्चे पर भी हमला करती है? 'नही।'

क्यो? इसलिए कि उनमे भी अपनी सन्तान के प्रति दया है।

साप एक जहरीला जानवर है, किन्तु उनमे भी कई–एक के व्यवहार मे दया देखी जाती है। जैसे नूरजहा पर सर्प ने फण किया था, उसे काटा नही। सेधियो के आदिपुरुष महादजी सेधिया पर भी सर्प ने छाया की थी, इस कारण साप का चिह्न आज भी ग्वालियर के सिक्के और झण्डे पर मौजूद है।

मनुष्य मे भी कुछ अश मे व्यावहारिक दया है, नही तो एक–दूसरे को मार डाले। माता बच्चे को सूखे मे सुलाती है, पर स्वय गीले मे सोती हे। क्यो? क्या वह बच्चा जन्मते ही उसे कमा कर देता है? या और कुछ सहायता करता है? 'नही ।

तब माता ऐसा क्यो करती है? इसलिए कि उसमे अपनी सन्तान के प्रति व्यावहारिक दया हे।

मित्रो! दयाहीन प्राणी हिसक, क्रूर, पापी, निर्दयी, म्लेच्छ कहा जाता है, अतएव दया करना सबका मुख्य कर्तव्य होना चाहिये। दया का दूसरा नाम ही अहिसा है, क्योकि जिसमे हिसा न हो, उसे अहिसा कहते है। जैसे नही मारने मे हिसा नही हे, उसी प्रकार रक्षा करने मे भी हिसा नही है। इसलिए

दया और अहिसा एक ही वात है। जो लोग नही मारने को तो अहिसा कहते हैं, परन्तु जीवो को वचाने मे अहिंसा नही मानते, वे भारी भूल करते हैं। क्योकि जीव को वचाने मे भी किसी जीव की हिसा नही है, फिर वह अहिसा क्यो नही है? अवश्य है।

मोटी समझ से 'हिसा' वह कृत्य कहलाता है, जिसके द्वारा किसी प्राणी के जीवन का अन्त किया जाए।

प्रश्न हो सकता है कि जव आत्मा अजर–अमर, अविचल है, त्रिकाल मे भी मारने से नही मरता, तब हिसा कैसी? जो वस्तु नाश नहीं होती, उसका नष्ट होना कैसा? उदयपुर के एक वकील ने भी यही प्रश्न किया था?

भाइयो! आत्मा अविनाशी हे, तभी तो हिसा लगती है। यदि आत्मा–अनात्मा बन जाता हो, तो हिसा किसे लगे? मारने वाले का आत्मा नष्ट हो गया और मरने वाला का आत्मा नाश हो गया, तब तो हिसा–अहिसा का सवाल ही नही रहा। आत्मा अजर–अमर अविनाशी है, इसी से मारने वाले को पाप और बचाने वाले को धर्म होता है। आत्मा के पास आयुष्य–रूप प्राण है, जो दस प्राणो मे अन्तिम प्राण हे। उसको अकाल मे जुदा कर देना, या ी, आत्मा से प्राणो का अलग कर देना, इसी का नाम हिसा हे। जैसे जो रात–भर लालटेन मे जल सकता हे उस घासलेट तेल को दियासलाई बतला कर एकदम जला डालना, 'अकाल मे नष्ट कर दिया'– कहा जाता है। इसी प्रकार, आत्मा के पास आयुष्य–प्राण होते हुए भी छुरी, तलवार आदि से दु ख पहुचा कर शरीर का अन्त कर देना, उसे हिसा कहते हे।

लोगो के विचार आज अतिसकुचित हो रहे हें। जब इनके विचार विस्तृत हो जाएगे, तव हिसा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान इनमे फेल जाएगा। धर्म के विषय मे दुनिया मे जो कुतर्क फेल रहे है, अर्थ मे जो खीचातानी की जाती है, वास्तविक ज्ञान के फेलने पर यह सव अन्धाधुन्ध मिट जाएगी।

मित्रो! मोटी दृष्टि से जो हिसा कही जाती हे, उसे आप समझ गये, पर जैनशास्त्र इससे भी गहरी बात वतलाता हे। वह कहता हे कि किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से किसी प्रकार का दु ख पहुचाना या दु ख देने का इरादा करना भी हिसा हे। इससे भी गहराई के साथ कहता हे कि ऐसा करना, कराना ओर किए हुए को अच्छा मानना, अनुमोदन करना मन से, वचन स अथवा कर्म से वह भी हिसा ही हे।

यदि आप किसी को गाली देकर, उसका मन दुखाने का प्रयत्न करते हैं, तो समझिये कि मं एक प्रकार की हिसा कर रहा हू। यदि आप किसी का

अपमान कर रहे है, तो भी समझ लीजिए की मै एक पकार की हिसा का भागी बन रहा हू। यदि आप किसी को लडाई–झगडा करने सलाह देते है, तो समझिये कि मेरा यह कृत्य एक पकार की हिसा मे शामिल है। इतना ही नही, मन से किसी का बुरा विचारना भी हिसा हे। इन तमाम हिसाओ के करने वाले पाणियो को, यथासमय बदला चुकाना पडता है। इन कृत्यो से गाढे–चिकने कर्म बन्धते हे।

शास्त्र–कथा मे तन्दुलमच्छ का उदाहरण आया हे। लिखा है कि तदुलमच्छ समुद्र मे रहने वाले हजार योजन की अवगाहना वाले मच्छ की आखो की भौ पर रहता है। तुदलमच्छ बहुत ही छोटा जीव होता है। उस बडे मच्छ की श्वास से जल के साथ हजारो मच्छिए, मच्छ के मुख मे खिच जाती हे और उच्छ्वास छोडने पर वापस निकल आती है। यह दृश्य देखकर तदुल मच्छ विचारता है कि यदि इस मच्छ के स्थान पर मै होता ओर मेरे मुह मे इतनी मछलिया आ गई होती, तो मै ऐसे ही इन को वापस न निकलने देता किन्तु सभी को खा लेता। यद्यपि तदुलमच्छ शरीर से कुछ नही कर सका उसने केवल हिसा की भावना ही की, फिर भी उसे सातवे नरक मे जाकर असख्य वर्षों तक दु ख उठाना पडता है। क्योकि उसने मानसिक हिसा की।

जिस प्रकार मन मे किसी का बुरा विचारना मानसिक हिसा मे गिना गया है, वैसे ही प्रकट रूप मे किसी की निन्दा करना भी हिसा के बराबर है। अर्थात वाचिक हिसा है और काया से बुरे कार्य मे प्रवर्तना, दु ख देना कायिक हिसा हे। इसके प्रमाण मे महाभारत मे भी एक उदाहरण मिलता है। महाभारत के युद्ध मे, जिस समय कर्ण के बाणो से घायल होकर युधिष्ठिर अपने शिविर मे पडे थे ओर अर्जुन उनकी कुशल पूछने आये, तब युधिष्ठिर ने दु ख के आवेग मे अर्जुन को कहा कि तुम्हे और तुम्हारे गाण्डीव धनुष को धिक्कार है। तुम्हारे मौजूद होते हुए कर्ण के बाणो ने मेरी यह दशा की और तुमने आज तक कर्ण का वध नही किया? अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो मनुष्य मेरे गाण्डीव धनुष की निन्दा करेगा, मै उसका वध करूगा। अत युधिष्ठिर के मुह से गाएडीव–धनुष की निन्दा सुनकर अर्जुन खड्ग निकाल कर युधिष्ठिर का वध करने चला। उस समय श्रीकृष्ण ने उन्हे रोकते हुए कहा कि अपने से बडे का अपमान कर देना ही उनका वध करना है। तुम युधिष्ठिर का अपमान उन्हे मारने दोडकर कर चुके, अत तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। अब

उनक वध करने की जरूरत नही है। कहने का मतलब यह है कि किसी का अपमान करना उस व्यक्ति की हिसा करने के बराबर है।

हिसा का वर्णन इतना गहन हे कि इसकी व्याख्या मे बडे–बडे विस्तृत ग्रन्थ बन सकते है, किन्तु आचार्यों ने सक्षेप मे यह वाक्य फरमाया है कि 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिसा', अर्थात् असावधानी से प्राणो को नष्ट करना ही हिसा है। इसलिए हिसा के पाप से बचने के लिए प्रत्येक कार्य मे सावधानी रखते हुए यतना करनी चाहिए। श्री दशवैकालिक सूत्र मे कहा हे कि यतनापूर्वक उठता–बैठता, सोता, चलता–फिरता, खाता–बोलता, पापकर्म नही बाधता है और हिसा के पाप से बच जाता है।

3. हिंसा के कारण

हिसा, किन–किन कारणो से होती है? इसका विवरण शास्त्र मे बुहत विस्तार से आया हे। यदि उन तमाम कारणो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाए, तो बहुत समय की जरूरत है, अत सक्षेप मे ही बतलाया जाता है।

ससार मे, करोडो ऐसे प्राणी विद्यमान हे, जो हमे दृष्टिगत नही होते। उनका पुज हमारे चारो तरफ चक्कर काटता हे, पर हम उन्हे देख नही सकते। ऐसे प्राणियो की हिसा, अनजान मे चलते, फिरते, बैठते, श्वास लेते, किसी वस्तु को इधर–उधर रखते एव आग जलाते समय हो ही जाती हे। चीटी आदि विकलेन्द्रिय प्राणी, जिन प्राणियो को आखो से देख सकते हे, उनकी भी प्राय अनजान मे इसी प्रकार हिसा हो ही जाती हे। रहे बडे प्राणी, उनकी हिसा मनुष्य क्यो करता हे? इसके उत्तर मे शास्त्र कहता हे कि कोई मास के लिये, कोई हड्डियो के लिए, कोई चमडे के लिए, कोई चर्बी के लिये, कोई दातो के लिए कोई रक्त के लिये, कोई बालो के लिये। इसी प्रकार अनेक भिन्न–भिन्न स्वार्थों के कारण बेचारे पशुओ की हिसा की जाती हे। पशुओ की ही नही मनुष्यो की भी हिसा की जाती ह।

किसी वस्तु को सडा कर उसका कोई पदार्थ तेयार करना यह भी एक हिसा का ही कारण ह। क्योकि सडाने पर उस वस्तु मे सेकडो सूक्ष्म जीव पदा होत ह जसे शराब आदि। ऐसी चीज काम मे लाने वाले उन जीवो की

हिसा के कारण बनते है तथा उन जीवो के मरने पर दुर्गन्ध आदि फैलकर जो रोगादि फैलते है, यह भी हिसा का ही साधन माना गया है।

इसी तरह कितनेक अज्ञानी कौतूहलवश भी प्राणियो की हिसा करते है। जब वे बेचारे पशु कष्ट पाकर चिल्लाते है, तब वह अज्ञानी खुश होता है ओर अपने दिल मे आनन्दानुभव करता हैं। उसे यह विचार नही आता कि वह बेचारा पशु परवश बना दु ख पा रहा है, आक्रन्दन कर रहा है, इसकी आत्मा को घोर दु ख हो रहा है। मुझे दया लाकर इसे कष्ट से मुक्त करना चाहिए। जबकि वह उसको तडफडाता हुआ देखकर प्रसन्न होता है। नारकी मे भी नेरयिको की पीडा देखकर परमाधर्मी देव इसी तरह खुश होते है और उनकी चिल्लाहट को कौतूहल का विषय बना लेते है। अज्ञान से महान् चिकने कर्मो का बन्ध होता है। वह परमाधर्मी देव देवयोनि से च्यव कर स्वल्पकालीन तिर्यच योनि मे आ जाते है और वहा से काल करके उसी नरक मे नैरयिक बन जाते हैं और वे नैरिये, जो मार खाते थे, वहा से आयु पूर्ण होने पर तिर्यंच का भव करके परमाधर्मी देव बन जाते है, जो अव मारते है। इस प्रकार अज्ञानी आत्मा कौतूहलवश भी प्राणियो की हिसा करता है।

कई एक अज्ञानी धर्म–भावना को लेकर भी प्राणियो की हिसा करते हें। जिनमे कुछेक स्वार्थलोलुप लोगो ने देवता आदि को प्रसन्न करने हेतु तथा कुछेक अभिमानी लोगो ने अभिमान मे आकर अज शब्द का अर्थ बकरा आदि पशु करके वेदादि की श्रुतियो मे अजमेघ, अश्वमेघ, नरमेघ आदि यज्ञो का विधान करके उसको धर्म का रूप दे दिया है और यज्ञ–होम मे बलि दिया हुआ पशु तथा देने वाला स्वर्ग–सुख प्राप्त करता है– ऐसे विधान से भोली जनता बेचारे मूक पशुओ की हिसा करने लग गई है। परन्तु ऐसी हिसा धर्म नही– अधर्म ही है। बडे–बडे ऋषि–मुनियो ने इस कार्य का निन्दा करते हुए कहा है कि–

यूप छित्वा पशून्हत्वा, कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येव गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते।।1।।

यज्ञ के करने वाले, पशु को हनने वाले, बलि देकर रुधिर के कीचड करने वाले भी जब स्वर्ग मे जावेगे, तो फिर नरक मे कौन जाएगा? इससे स्पष्ट है कि प्राणी–हिसा मे धर्म नही, किन्तु अधर्म है। इस प्रकार अनेक कार्य ऐसे हे जो हिसा के कारण है। ऐसे हिसा के कारणो को समझ कर उनसे यचना ही वुद्धिमानी हे।

4 अहिंसाव्रत के अतिचार

स्थूल प्राणतिपात से निवृत्त होने वाले व्रतधारी श्रावक को पचअतिचार जानने योग्य है, परन्तु आचरण करने योग्य नही है वे पाच अतिचार ये हैं–(1) बन्धन, (2) वध, (3) छविच्छेद, (4) अतिभार (5) भत्तपाण–विच्छेद।

किसी रस्सी आदि से बाधना, उसे 'बन्धन' कहते है। चाबुक आदि से मारना, उसे 'वध' कहते है। करवत आदि शस्त्रो से शरीर को फाडना या शस्त्र द्वारा किसी अवयव को काटना–छेदना, उसे 'छविच्छेद' कहते है। सुपारी, नारियल आदि भार को पशु के कन्धे, पीठ आदि पर शक्ति से ज्यादा भरना, उसे 'अतिभार' कहते है। 'भत्त' यानी ओदन आदि खाने की चीज ओर पाण यानी पानी आदि तृपा मिटाने की वस्तु, उसका विच्छेदन कर देना, अर्थात् भात–पानी न देना, उसे 'भत्तपाण–विच्छेद' नामक अतिचार कहते है।

(1) बन्धन

पहला 'वन्ध' नामक अतिचार आया है। बन्ध के दो भेद होते है। एक तो दोपद को बाधना ओर दूसरा चौपद को बाधना। दास–दासी, नौकर–चाकर तथा लडके–लडकी आदि की गिनती दोपद मे हे ओर हाथी, घोडा, भेस बकरी, गाय आदि की चोपद मे ये दो कारणो से बाधे जाते है। जेसे अट्ठाय–अनट्ठास, अर्थ के लिये और अनर्थ के लिए। किरी को विना मतलब वाधना ओर उसे कष्ट देना, उसकी कुदरती वाढ, स्वतत्रता को रोक देना, यह एक प्रकार की हिसा हे। श्रावक को चाहिए कि इससे बचे।

अट्ठाए अर्थात् अर्थ से वाधना। इसके भी दो भेद हे। निरपेक्ष ओर सापेक्ष। निरपेक्ष उसे कहते हे, जो लापरवाही से वाधा जावे, ऐसा बाधा जावे कि वह अपने हाथ–पेर भी न हिला राके। ऐसा बाधना श्रावक का धर्म नहीं हे। दूसरा बाधना हे सापेक्ष। मतलव के लिये करुणा रखकर जो बाधा जावे, उसे सापेक्ष कहते ह। शास्त्र कहता हे कि पशु आदि को करूणा छोडकर इरा प्रकार नही बाधे कि उन्हे दु ख हो। मोके–बेमोके जेसे लाय (अग्निकाण्ड) आदि मे जल्दी खोला न जा सके, ऐसा न बाधे।

दोपद दास–दासी पुत्र–पुत्री आदि यदि उद्दण्डता करते हो उनको उधारने के लिये बाधना, यह सापक्ष बाधना हे। चोर को चोरी करन की सजा, यानी चोरी की आदत मिटाने क लिये बाधना यह भी सापेक्ष ह। इसी प्रकार पुत्रादि का पढाने क लिय बाधना यह भी सापेक्ष हे।

मै कई बार कह चुका हू कि यह धर्म राजाओ के मुकुट पर रहने वाला है। राजा इस धर्म को धारण कर सकता है। जो राजा इस धर्म को धारण करे और अपने फर्ज के अनुसार पजा के कल्याण के लिये अन्यायियो को दण्ड दे चोरो को बाधे और मौका आ पडे तो जुल्मी को सजा भी दे, पर वह गुस्से मे आकर नही लेकिन न्याय से अभियुक्त की पूरी जाच कर यदि यथार्थ मे दोषी हो और उसक जीने से पजा को महान् कष्ट पहुचने की अथवा शान्ति भग की पूरी सम्भावना हो तो उसे फासी की सजा देना, यह भी सापेक्ष मे गिना जाएगा।

वैसे तो राजा फासी की सजा दे सकता है, पर जिन्हे केवल बन्धन की ही सजा दी गई है, उनके भरण—पोषण मे कभी दुष्टता का परिचय न देना चाहिए। उनकी भूख—प्यास तथा अन्य शारीरिक बाधाए न रुके, इसकी तरफ ध्यान देना, राजा का कर्तव्य है। इतने दिन तो उसकी जिम्मेवारी उसीके ऊपर थी पर अब उसके जीवन की जिम्मेवारी राजा पर है। यदि उसे किसी प्रकार का न्याययुक्त कानूनी कष्ट के सिवाय कष्ट भोगना पडेगा तो उसका उपराध राजा के सिर होगा। जो राजा इस बात का ध्यान न रखेगा, उसका दोष राजा के ऊपर तो है ही पर उसका राज्य भी दोषी हो जाएगा।

यह बात तो हुई द्रव्यबन्धन की, ऐसा ही भावबन्धन के लिये भी समझ लेना चाहिए अर्थात् जाति के बन्धन, रीति—रिवाज, ठहराव, कानून ऐसे न हो कि बेचारे गरीब कुचल—कुचल कर, रिब—रिब कर मर जावे। जिस समाज मे अन्याययुक्त कानूनो का प्रचार न होगा और जो अभी प्रचलित अन्यायपूर्ण जितने ही विपरीत कानून है, उनको ठुकरा देगा, उस समाज मे रामराज्य का—सा आनन्द फैल जाएगा इसमे कोई सन्देह नही है।

(2)—वध

पहले अतिचार का कुछ विचार हुआ। अब दूसरे अतिचार वध (हनन) पर विचार किया जाता है। इसके दो भेद होते हैं। एक 'अनर्थ' दूसरा 'सार्थ'। रास्ते चलते हुए बिना कसूर किसी मनुष्य या पशु को डण्डे, चाबुक आदि से चोट पहुचाना अनर्थ मे गिना जाता है। अर्थ 'हनन' के दो भेद हैं। एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। दयारहित होकर यानी अग—उपाग मे चोट पहुच जाने का विचार न कर जो मारपीट की जाती है, उसे निरपेक्ष कहते हैं और जो सुधार के खयाल से, अपना व्रत भग न हो जावे— मानो मैं अपने ही शरीर पर मार रहा हू, ऐसा खयाल करके जो दण्ड दिया जाता है वह सापेक्ष है अथवा

पशु आदि को उलटे रास्ते न जाने देने या चलाने के ख्याल से जो प्रहार किया जाय, वह भी सापेक्ष है।

(3) छविच्छेद

तीसरा अतिचार है 'छविच्छेद'। इसके दो भेद सार्थ और अनर्थ। बिना प्रयोजन कौतूहलवश किसी मनुष्य या पशु–पक्षी का अगोपाग छेदन अनर्थ है इसे श्रावक त्यागे। अर्थ के दो भेद – सापेक्ष और निरपेक्ष। करुणारहित होकर किसी की चमडी छेदना निरपेक्ष छविच्छेन है और करुणा रखते हुए किसी रोग की चीर–फाड करना सापेक्ष छविच्छेदन कहलाता है। ऐसा करते हुए भी श्रावक अपने व्रत से पतित नही होता। इतना ही नही, किन्तु दुखियो के दु ख मिटाने से करुणा भाव का लाभ भी ले सकता है। हा, इस समय प्रयोग के लिये निरपराध प्राणी को चीर डालते है, वे अश्वयमेव व्रत के घाती है। परन्तु रोगी का रोग मिटाने के लिये जो ऑपरेशन किया जाता है, वह सापेक्ष छविच्छेदन है।

(4) अतिभार

अब चोथा अतिचार 'अतिभार' आया। पहली बात तो यह हे कि श्रावक को गाडी आदि से अपनी आजीविका चलानी ही नही चाहिए। यदि चलानी ही पडे तो सापेक्ष और निरपेक्ष का ध्यान जरूर रखना चाहिए। बेल तथा घोडो आदि के ऊपर इतना बोझ न लाद देना चाहिए कि बिचारो की पीठ, टाग आदि टूट जाए या शक्ति से ज्यादा काम लेने से, उन्हे अपनी जीवन–लीला ही जल्दी समाप्त करनी पडे।

कई मनुष्य भी अपने पेट के लिए बोझ उठाने का काम करते हे। आप लोगो का कर्तव्य हे कि दया कर उनसे शक्ति से ज्यादा काम न ले। उनका उतना बोझ उठाने का अधिकार हे, जितना वह अपने हाथ से सुखपूर्वक उठा ओर रख सके।

कोई प्रश्न कर सकता हे कि यदि कोई आदमी अपनी मर्जी से शक्ति से ज्यादा बोझ उठाना चाहे तो? इसका उत्तर यह हे कि यदि वह अपने मन से भी उठाना चाहे तो भी श्रावक को उसे न उठाने देना चाहिए। क्योकि इस प्रकार बोझा उठाने से उसकी जिन्दगी जल्दी खत्म हो जाती हे एसा पुस्तको के अन्दर पढने मे आया हे। ऐसा करने से एक दोप ओर भी हे ओर वह यह कि करुणा का भाव नष्ट हो जाता हे।

मनुष्य, बैल, घोडो आदि के ऊपर ज्यादा न लादना चाहिए, यह बात तो आप समझ ही गए है। यहा यह भी समझ लेना चाहिए कि असमय मे लडके-लडकियो का विवाह करना भी उन पर अनुचित बोझा डालना है। अनमेल के साथ विवाह कर देना, यह भी अनुचित बोझा है। प्रजा के हित को सामने न रख कर, जो अन्यायपूर्ण कानून उनके द्वारा जबरदस्ती पलवाये जाते हैं यह भी एक पकार का बोझ है। अतएव इन कामो को श्रावक व्रतधारी मनुष्य (राजा आदि भी) कभी न करे।

जिन पशुओ और मनुष्यो को अपने अधीन कर रखे है, उनको समय पर विश्राम देना, शक्ति से अधिक काम न लेना, इस तरफ से कभी बेभान न होना चाहिए। वर्तमान मे मालिको को तरफ से उपेक्षा बढने तथा अत्यधिक समय तक काम लेने के कारण सरकार को कानून बनाकर रोक लगानी पडी है। श्रावक को इस विषय मे बहुत सावधानी रखनी चाहिए। तभी वह अतिचार से बच सकता है।

(5) भक्तपान-विच्छेद

पाचवा अतिचार 'भक्तपाणी-विच्छेद' है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद है। श्रावक को चाहिए कि अनर्थ से निष्कारण हास्य कौतूहलवश किसी को भूखो न मारे। सापेक्ष भूखो मारने मे कोई दोष नही गिना गया है।

समाज के अन्दर अभी ऐसी बेहूदगी फैली हुई है कि वैद्य वगेरह आज्ञा देते है कि इसको रोटी आदि मत देना, तो भी घर वाले 'कुछ तो खाले' कह-कह कर जबरदस्ती खिलाते है। रोगी-अवस्था मे विचार-पूर्वक भूखे रहना रोग को भूखा रखना है। इसी प्रकार रोग-अवस्था मे बिना विचार से खाना रोग को खिलाना है। वैद्य आदि निश्चय कर कहे कि इस रोग मे रोटी आदि देना हानिकार है। ऐसी अवस्था मे रोटी न दी जाए, तो वह व्रत का अतिचार नही, पर करुणा का काम है। किसी को सुधारने के लिये 'रोटी न दी जायेगी'- ऐसा भय दिखाना सापेक्ष मे गिना गया हे। परन्तु निरपेक्षता से ऐसा करना और अपने आश्रित मनुष्य या पुश-पक्षी आदि के खान-पान की सभाल न करना, यह भातपाणी- विच्छेद नामक अतिचार है।

गर्भवती स्त्री उपवास करके गर्भ को भूखा रखती ह, वह भी इसी अतिचार मे समाविष्ट हे।

5 हिसा के कार्य और उनसे बचने के उपाय

मित्रो! हिसा बुरी हे, ऐसा सारा जगत कहता है, पर इसके सच्चे स्वरूप को समझे बिना, इससे बच नही सकते। हिसा का स्वरूप शास्त्र मे निराले–निराले ढग से बतलाया है। इसका यही मतलब है कि मनुष्य इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान ले। वस्तु के गुण–दोष को अनेक रूप से बतलाने का तात्पर्य केवल यही है कि यदि वह वस्तु अच्छी हो तो उसके प्रति लोग आदर और बुरी हो तो उसका तिरस्कार करे।

आत्मा, हिसा कब करता है और दया कब, यह मै बतलाना चाहता हू। आत्मा के दो गुण है– शुभ गुण और अशुभ गुण। शुभगुण मे प्रवृत्त होने से आत्मा दया करता है और अशुभ मे प्रवृत्त होने से हिसा। हिसा और अहिसा आत्मा के परिणाम हे। इस पर गणधरो ने शास्त्र के अन्दर बडी ही मार्मिकता के साथ चर्चा चलाई है। उनके परिश्रम का लाभ लेना प्रत्येक मनुष्य के लिए हितावह होगा।

शास्त्र मे जिस प्रकार एक वस्तु के अनेक भेद बतलाये हे, उसी प्रकार हिसा के भी कई भेद बतलाये है। इसका कारण यही है कि किसी भी प्रकार से लोग हिसा से बचे। हिसा के बुरे गुणो को प्रकट करना, हिसा पर कोई क्रोध नही हे, यह तो उसके सच्चे स्वरूप को बतलाना हे। वस्तु के यथार्थ गुण–दोप बतलाना, ससार के कल्याण के लिए बहुत जरूरी हे।

शास्त्र यदि हिसा–अहिसा का रूप न समझावे तो मनुष्य उनसे दूर केसे रह सकता हे? जो मनुष्य सर्प के जाति–स्वभाव को नही जानता, वह उसके डसने से केसे बच सकता हे? जो जहर के गुण को नही जानता, वह अवश्य ही धोखा खा जाता हे। इसी प्रकार जो हिसा के स्वरूप को नही जानता वह उससे बच नही सकता। हिसा से बचने वाले प्राणी की आत्मा मे अपूर्व जागृति उत्पन्न होती हे। हिसा से बचना दयावान का खास लक्षण हे।

सब प्राणियो ने अपनी–अपनी रक्षा के लिये हाथ–पाव खाने के लिय दाढ व दात, देखने के लिये नेत्र, सुनने के लिए कान, सूघने के लिए नाक, चखने के लिए जीभ आदि अग–उपाग अपने पूर्वकर्म के अनुसार प्राप्त किये हें। इनको छीन लेने का मनुष्य को कोई अधिकार नही हे। जो मनुष्य मक्खी के पख को भी नही बना सकता उसे उसको नष्ट करने का क्या अधिकार ह? परन्तु स्वार्थ ऐसी चीज हे कि उसकी ओट मे कुछ भी नही दिखता। जो अग–उपाग उस प्राणी के लिये उपयोगी ह मनुष्य कहा करते हे कि यह ता

हमारे लिये पैदा किया गया है। ऐसा कहने वालो से सिह यदि मनुष्य की भाषा मे कहे कि तू मेरे खाने के लिये पैदा किया गया है, तो वह मनुष्य उसे क्या जवाब देगा?

स्वार्थ के कारण अज्ञानी मनुष्य अपने अज्ञान से यदा—कदा ऐसी हिसा का समर्थन कर देते है, लेकिन ज्ञानी पुरुष ऐसा कभी नही करते। वे सब पाणियो को सुख का अभिलाषी समझते है किसी प्राणी को हिसा करने का अधिकार नही समझते। जो दूसरे के हाड लेता है क्या उसके हाड बचे रहेगे? कभी नष्ट न होगे? 'होगे'।

जो दूसरे के मास का हरण करेगा क्या उसके मास का कभी नाश न होगा? होगा।

जो दूसरो का चमडा उतारता है, क्या उसका चमडा नष्ट न होगा? 'होगा अवश्य होगा'।

जो प्राणी जीव की हिसा करता है, उसे उसका बदला अवश्य चुकाना ही पडेगा। इसलिये ज्ञानी कभी हिसा नही करते। जो अज्ञानवश हिसा करते है उसे योग्य उपदेश देखकर वे छुडाने का प्रयत्न करते है।

पहले आप लोग आत्मा के स्वरूप को ठीक तौर से समझो। समझने के बाद ही आप कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान के बिना, भक्ष्याभक्ष्य का भी कैसे खयाल रह सकता है?

कई भाई कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होने से ही अभक्ष्य, जैसे मास और अपेय, जेसे शराब आदि का उपयोग करते है। बीडी, सिगरेट भी इसी कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होने से लोग काम मे लाते है। मास और शराब आदि खाने—पीने मे पाप तो है ही, पर साथ मे यह अस्वाभाविक भी हे।

मेने एक पादरी की लिखी पुस्तक मे पढा था कि हिन्दू लोगो से हम (ईसाई) विशेष दया रखने वाले है। हिन्दू शास्त्रो के अनुसार गेहू आदि पदार्थो मे बहुत जीव है। हिन्दू लोग गेहुओ को पिसाकर खाते है। इसमे कितनी हिसा होती हे? एक बात और भी है। जब गेहू आदि की खेती की जाती है तब भी पानी के, मिटटी के और न जाने कौन—कौनसे हजारो जीवो की हत्या होती हे, तब कही जाकर वे (हिन्दू) अपना पेट भरने मे समर्थ होते है। इस पर भी वे अपने को अहिसक मानते हैं। हम (ईसाई) लोग सिर्फ एक बकरे को मारते है, उसमे एक से भी अधिक का पेट भर जाता है इसलिए हिसा बहुत कम होती है।

पादरी ने अपनी पुस्तक मे जो इस प्रकार लिखा है, इसका उत्तर यह है कि जो पादरी अपने को कम और हिन्दुओ को विशेष रूप से हिसक मानता है, वह अनजान और भोले लोगो की आखो मे धूल झोकने का काम करता है। वह इस दलील से हिन्दुओ के प्रति घृणा प्रकट करवाना चाहता है और चाहता है कि इस दलील के सुनने से लोगो पर हमारी छाप पड जाएगी और ईसू के चरणो मे बहुत-से लोग सर झुका देगे। यह इस पादरी भाई का खयाल बिल्कुल गलत है। उसे समझ लेना चाहिए कि मैं जो दलील पेश करता हू, अहिसा के सच्चे अर्थ या मर्म को जानने वाले के सामने वह कपूर की तरह उड जाएगी।

सोचिये कि यदि गेहू खेती से पैदा होते है, तो क्या बकरा आसमान से टपक पडा है?

'नही'।

उसका जन्म रज और वीर्य के मिश्रण से, किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। गेहू आदि की बुनियाद आबी 'जलीय' और बकरे की बुनियाद पेशाबी है। गेहू अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा स्पष्ट जग-जाहिर जीव है। गेहू पैदा करने वाले की नीयत किसी को मारने की नही होती है। कुदरत के कानून से मर जाए, यह दूसरी वात हे। जिन गेहू आदि अनाज मे ज्यादा पाप बतलाते हैं, उन्ही गेहू के दाने तथ जल, सब्जी आदि से बकरे का पालन होता हे। बकरे को मारने वाले के परिणाम प्रत्यक्ष क्रूर ओर घातकी होते है, परन्तु गेहू पीसने वाले के वेसे नही होते। गेहू आदि अनाज, दूसरी खुराक न होने से विवश हो, प्राण-रक्षा के लिये खाते हैं, परन्तु बकरे की तो अन्न मोजूद होते हुए भी मास खाने वाले, शेतानी विचार रखने वाले ओर स्वाद के लोलुप मनुष्य अस्वाभाविक रीति से हिसा कर डालते हे। वकरे की अनाज के दानो से विवेक पूर्वक तुलना न करना, यह पादरी साहब की अज्ञानता के अतिरिक्त ओर क्या हे?

एक वडी वात इसमे ओर भी रही हुई हे। क्या धान आदि के द्वारा पेट भरने वाले का उतना क्रूर स्वभाव हो सकता हे, जितना मास खाने वाल का होता है? यदि नही, तो फिर मास खाने के गुण ओर धान खाने वाल के अवगुण केसे गाए जाते हे? कुछ समझ मे नही आता।

मने ऊपर कहा था कि मास खाने मे पाप तो हे ही पर वह मनुष्य के लिए अस्वाभाविक भी ह। यदि स्वाभाविक हो, तो बिना शराब व मास के एक मनुष्य भी नही जी सकता था। स्वाभाविक उसे कहत ह जिसके बिना

जीवन–निर्वाह ही न हो सके। जैसे पानी के बिना प्राणी नही जी सकता। पर हम देखते है कि शराब के बिना आज करोडो की सख्या मे जी रहे है। ऐसे ही मास खाये बिना भी करोडो मनुष्य जीवित दिखाई देते है। शराब के कारण कई राजाओ का खून हुआ है और कई शराबियो ने शराब के नशे मे अपनी मा–बहिनो के साथ कुकृत्य किया है, ऐसा सुनने मे आया है। सच बात तो यह है कि शराब पीने पर दिल पर ऐसा नीच असर होता है कि भले–बुरे का कुछ भी ध्यान नही रहता। यही क्यो, आप चुरुट हो ही लीजिये। एक अग्रेज को चुरुट पीने का बडा शौक था। एक दिन उसे चुरुट के जोर से खूब नशा चढ आया। उसकी औरत सोई हुई थी, छुरे से उसे मारना चाहा, पर सयोग से थोडी देर मे नशा उतर जाने के बाद इस नीच विचार को वह धिक्कार देने लगा। थोडी देर पीछे उसने फिर चुरुट पिया। इस बार उसने अपनी स्त्री को छूरे से मारने का कुकृत्य कर ही डाला। चुरुट पीने से जब इतना पतन हो जाता है, तब शराब से कितना होता होगा? इसका विचार आप ही कीजिए। शराब पीने 'वालो के हाथ से हजारो खून हुए हैं।

जिस अमेरिका को आप अनार्य देश कहते है, वहा वालो ने शराब का बहिष्कार कर दिया है। पर आपके आर्य देश मे इसकी दिन–ब–दिन बढती हो रही है, इसका कया कारण है?

शराब और मास का ओसवाल जाति ने त्याग किया है, पर सुनते है– कई कौम के दुश्मन, ओसवाल नाम धरा कर छुपी रीति से इसका उपयोग करते हैं। जाति वालो की तरफ से इस कृत्य की रोक का जैसा प्रबन्ध होना चाहिए, वैसा नही होता।

शराब और मास ने, कई दैवी प्रकृति वालो को राक्षसी प्रकृति वाले बना दिया है और उनके सुखमय जीवन को दु ख मे परिणत कर दिया है। जिस घर मे शराब पीने का रिवाज है, जरा उस घर की दशा तो देखिये। स्त्रिया, बच्चे टुकडे–टुकडे के लिये हाय–हाय करते है, पर वह शराब का शोकीन शराब के नशे मे झूमता है। उसके धन का, शक्ति का और समय का नाश होता है जिसका उसे कुछ भी पता नही।

मास खाना अस्वाभाविक है, यह मै पहले कह चुका हू। मास खाना अच्छा है या बुरा, इसकी परीक्षा पाश्चात्य देश मे 10,000 विद्यार्थियो पर की गई थी। पाच हजार विद्यार्थियो को केवल शाकाहार– फल–फूल, अन्न आदि पर और पाच हजार विद्यार्थियो को मासाहार पर रखा। 6 महीने बाद जाच करने पर मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मासाहार पर रखे गये थे उनकी अपेक्षा

शाकाहार वाले सब बातो मे तेज रहे। शाकाहारियो मे दया, क्षमा, वीरता आदि गुण प्रकट हुए और मासाहारियो मे क्रोध, क्रूरता, भीरुता आदि। मासाहारियो से शाकाहारियो मे बल विशेष पाया गया। इनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ। इस फल को देख कर वहा के लाखो मनुष्यो ने मास खाना सदैव के लिये छोड दिया।

गाधीजी जिस समय विलायत के एक शहर मे एक भारतीय महन्त के घर निमन्त्रित हुए तो वहा क्या देखते है कि 17 यूरोपियन शाकाहारी थे ओर केवल 2 भारतीय शाकाहारी थे। यद्यपि कुल भारतीयो की सख्या, यूरोपियनो से किसी प्रकार कम न थी।

मासाहार, मनुष्यो सी लिए स्वाभाविक हे या अस्वाभाविक, इसकी जो जाच हुई, उसका नतीजा आपने सुना। एक और भी जाच है। यह जाच पशुओ पर से होती है, क्योकि मनुष्यो ने अपनी बुद्धि का विकास किया हे, इसलिए इसने अस्वाभाविक को भी स्वाभाविक मान लिया है। कई वकील लोग बेईमानी को जितना सच्चा रूप दे सकते है उतना भोला–भाला मनुष्य नही दे सकता। पशु–पक्षी पढे हुए नही हे, इस प्रकृति के कानूनो को तोडने की हिम्मत इनमे नही है। प्रकृति के कानूनो की परीक्षा इन पर बडी अच्छी रीति से हो सकती हे।

पशुओ मे दो पार्टिया हे। एक मासाहारी पार्टी ओर दूसरी शाकाहारी (घासपार्टी)। मासाहारी पशुओ के नाखून पेने होते हे। जेसे कुत्ता, बिल्ली, सिह आदि के और घासपार्टी वाले पशुओ के पेने नही होते। जेसे हाथी, गाय भैस, ऊट आदि के। घासपार्टी वाले पशु मनुष्यो के मित्र–रूप हे। वे घास खाकर दूध देते हे, पर कुत्ता मासभक्षी होने से रोटी भी खाता हे ओर काटने से भी नही चूकता। मतलब यह हे कि घासपार्टी वाले शान्त होते हे ओर मासपार्टी वाले क्रूर।

खाने–पीने का असर शरीर ओर मन पर जरूर पडता ह। यह बात गीता से भी सिद्ध हे। उसके 17वे अध्याय मे सात्विक, राजस ओर तामरा भोजन का विशद वर्णन किया गया हे।

अच्छा अब मे मासाहारियो की दूसरी पहचान बतलाता हू। मासाहारी पशुओ क जबडे लम्बे होते हे ओर घासपार्टी वाला के गाल। गाय ओर कुत्त के जबड देखने से यह भेद साफ मालूम हागा।

मासाहारियो की तीसरी परीक्षा यह है कि वे जीभ से चप–चप कर पानी पीते है और शाकाहारी ओठ टेक कर। गाय, भैस, बन्दर तथा सिह, कुत्ता, बिल्ली आदि को देखने से यह भेद मालूम हो जाएगा।

ऊपर की परीक्षा को कसौटी पर कसने से निर्विरोध सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य पाणी मासाहारी नही है। कई विद्वान् डाक्टरो ने भी यह सिद्ध कर बतलाया है कि घास खाने वाले, मास खाने वाले और अन्न खाने वाले पाणियो की आते एकसी नही होती। बन्दर के शरीर मे मास को पचाने वाली आते नही है। इसलिए वह कभी मास नही खाता, फल चट उठाकर खा जाता है। जरा विचार कीजिए कि जो मनुष्य की शक्ल का प्राणी बन्दर है, वह तो मास नही खाता, पर मनुष्य कहलाने वाला मास खाता है।

जरा पक्षियो की तरफ देखिये। आपने कबूतर को कभी कीडा खाते देखा है? 'नही'। और कौए को? 'हा'।

क्या आप जानते है कि कबूतर और कौए को यह पाठ किसने पढाया? 'प्रकृति ने।'

आपने कभी तोते को मास खाते देखा है? नही।

वह आपकी भाषा सिखाने से सीख सकता है। जो मनुष्य की भाषा सीखे, वह तो मास नही खाता, पर जिसकी अपनी भाषा है, वह मनुष्य मास खाये यह कितनी लज्जा की बात है।

अरे मनुष्य! तू तकदीर लेकर आया है। जरा तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति के कानून को मत तोड। क्या मास न खाने वाले भूखो मरते हे?

हम देखते है कि जितने मासाहारी भूखे मरते है, उतने शाकाहारी भूखे नही मरते। व्यवहार दृष्टि से शाकाहारी हर प्रकार से प्रकृति से सुखी और मासाहारी दु खी दिखाई देते है।

मुझे विश्वास है कि बहुत–से उच्च कोटि के मनुष्य मास का सेवन नही करते। ऊपर जो विवेचन किया गया है, वह इसलिये कि लोग मास के गुण–दोष को अच्छी तरह समझ जाए और उसका सेवन करने वाले भाइयो को सच्चा मार्ग दिखा सके।

यद्यपि आप मास–सेवी नही हें, तथापि अहिसावादी ओर अहिसा परमो धर्म' के अन्दर विश्वास रखने वाले को कहा जाता है कि त्रस जीव की हिसा के द्वारा होने वाले किसी भी काम मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता देना उचित नही हे। मै चाहता हू कि जिन चीजो के लिए त्रस जीवो की हिसा होती हे उनको भी आप पापपूर्ण समझ कर त्याग दे।

6 विदेशी शक्कर आदि

कई चीजे, आज बाजारो मे ऐसी बिकती दिखाई देती हैं, जो ऊपर से चमकती हुई, सुन्दर और साफ हैं, पर उनकी बनावट मे महाहिसा तथ्सस घृणित वस्तुओ का उपयोग किया जाता है। आपने विलायती शक्कर देखी होगी। सुना जाता है कि कई भाई आजकल मिठाई बनाने मे इसका खूब उपयोग करते है। उनका कहना है कि उसमे मैल कम होता है ओर देशी शक्कर की वनिस्पत कुछ सस्ती भी मिलती है। हाय हाय! जो भाई एक चीटी के मारने मे पाप समझते हैं, वे ही अज्ञान से कुछ लाभ के लिये धर्म तथा देश को पतन के गहरे गट्टर मे डाल देते हैं। माना कि यह दिखने मे साफ और कीमत मे सस्ती है, पर क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि यह कैसे घृणित प्रकार से बनाई जाती है?❂ तथा इसके खाने से शरीर को क्या हानि है?

भारत मे जो शक्कर बनाई जाती है, उसके लिए भी आरम्भ होता है पर विदेश जितना घोर पाप नही। भारत मे बनाई जाने वाली शक्कर मे,

---

❂ (1) 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' नाम का एक बहुत वर्षो की शोध के बाद तेयार हुआ ग्रन्थ है जिसके आधार पर सरकार फेसला करती हे। उसके 667वे पृष्ठ पर लिखा हे कि 'शक्कर साफ करते समय हरेक जानवर का रक्त (खून) तथा हड्डियो के कोयले का चूरा डाला जाता हे।'

(2) 'डिक्सनरी ऑफ आर्टस' छठी आवृत्ति, लन्दन पृष्ठ 829 पर लिखा हे कि 'गॉगडे बनाये जाते हे उस समय 54 मन शक्कर मे 27 मन हडिडया के कोयले का चूरा डाला जाता हे।

(3) स्वामी भास्करानन्द लिखते हे कि 'जब मे विलायत गया तब मेने कितने ही शक्कर बनाने के कारखाने देखे। उनके पहले खण्ड (गजित) मे पहुचते ही मुझे उल्टी होगी ऐसा मालूम हुआ। मे नही जानता था कि ऐसी अपवित्र चीजो स शक्कर बनती हे। पर नजरो रो देखने पर सखद आश्चर्य होता है कि जिन चीजो के स्पर्श से भी महान पाप लगता हे उन्ह ही हिन्दू लाग किस प्रकार खात हें?

(4) भारतमित्र ता 28–10–1950 क अक म लिखा ह' अच्छी शक्कर बनान के लिये जिस प्रकार इस देश म दूध काम म आता हे उसी प्रकार वहा (विलायत म) जानवरो के लाहू स शक्कर (खाड) का मेल काटा जाता ह। कारण कसाईखाना म दूध क वनिस्पत लहू सस्ता मिलता ह।

(5) मि हरिस कहत हें– 'खाड सुअर क लहू स साफ की जाती ह।

एकेन्द्रिय आदि पाणियो की हिसा होती है, पर पचेन्द्रियो – गौ आदि, जिन्हे आप माता के नाम से पुकारते है, की नही।

हमारी राय मे तो शक्कर देशी हो या विदेशी, न खाना ही अधिक लाभकर है। क्योकि ज्यादा शक्कर खाने से शरीर मे रोगो की उत्पत्ति होती है और ब्रह्मचर्य आदि की रक्षा मे बाधा पहुचती है। जिससे शक्कर के बिना न रहा जाता हो तो उसे कम से कम इतना तो चाहिए कि विलायती भ्रष्ट शक्कर का उपयोग न करे।

शक्कर जिन्दगी–भर न खाई जाए तो कोई क्षति नही होती, परन्तु रोटी के बिना काम नही चल सकता। तब बतलाइये, प्राकृतिक, यानी शरीर को लाभ पहुचने वाली इन दोनो चीजो मे से कौन हुई?

बादशाह अकबर जैसे मुगल के राज्य मे 3 से 4 रू मन तक घी मिलता था। एक रु का सात सेर घी मिलने की बात तो आज भी आप अपने बूढे बडेरो से पूछ सकते है। उस समय के लोग आज की तरह चाय की मेहमानी नही करते थे। उस समय हिन्दुस्तान मे आजकी तरह चाय का प्रचार नही था। सुना है कि यहा चाय का विशेष प्रचार लार्ड कर्जन के जमाने से हुआ है। चाय शरीर के लिए नुकसानकारक और बडी ही अपवित्र वस्तु है। चाय अनेक गरीब लोगो की अश्रुधारा से सीची जाती है। यह आपको अभी मालूम नही पड सकता, पर जब इस पर विशेष विचार करने का मौका होगा तब आपको मालूम पडेगा कि किस प्रकार बहनो और बच्चो की हाय–हाय ओर त्राहि–त्राहि से यह चाय बनाई जाती है। किस प्रकार गरीबो का पसीना ओर खून एक होता है। ये भाई–बहन और बच्चे और कोई नही, आपके भारतीय ही है। इन बेचारो को चाय के खेतो मे निर्दय अग्रेज व्यापारियो के द्वारा सदैव मार सहनी पडती है। क्या ऐसी पापमय चाय का पान करना आप ठीक समझेगे? चाय की वजह से आज हिन्दुस्तान मे खाड की ज्यादा माग बढ गई है। लोग यदि इस नुकसानकारक चाय को छोड दे तो विश्वास है कि आपको विदेशी अपवित्र खाड मगानी ही न पडे।

पहले के लोग खाड के ज्यादा शौकीन नही थे। खाड की मिठाइया भी इतनी नही बनती थी। लोग ज्यादातर गुड की 'लापसी' से ही अपना काम निकालते थे। भारत के लोगो मे ज्यो–ज्यो ऐश–आरामी की वृत्ति बढती गई त्यो–त्यो हरेक विलायती चीजो को ही पसन्द करने लगा। पहले के लोगो का सिद्धान्त था– 'मोटा खाना, मोटा पहनना'। पर आज 'पतला खाना आर

पतला पहिनना' हो गया है। कहा है वह बच्चो की सुन्दर हास्यमयी माधुरी और कहा है वह जवानो का जोश?

आपका यह ऐश–आराम वडा खतरनाक है। यह न केवल इहलोक मे पर परलोक मे भी दु ख देने वाला है। इहलोक मे तो यो है कि इसके प्रताप से आप दिन–दिन शक्तिहीन हो रहे ह ओर शोक की चीजे करीव–करीव तमाम ही विदेश से आने से दरिद्री भी। और परलोक मे यो कि शोक करने की जितनी भी चीजे आज दिखाई देती हैं, वे प्राय महापाप से वनती हैं।

शौक की चीजो मे सवसे पहला नम्वर कपडे का है। आजकल बहुत–सा कपडा विलायत से आता है।❖ यह दिखने मे चटकीला–मटकीला ओर सुन्दर होता है, पर कई विद्वान् अग्रेजो ने अपनी पुस्तको मे लिखा है कि इसके बनाने मे चर्वी आदि काम मे लाई जाती है। सुना गया है कि चर्वी योग्य परिमाण मे सीधी न मिल सकने के कारण कसाईखानो मे सैकडो मूक गरीव प्राणियो का बेरहमी के साथ नित्य कत्ल होता है। यह कत्ल केवल आप लोगो के लिए चल रहा है। यदि आप अपनी मोज–शोक कम कर दे तो यह होने वाला भयकर हत्याकाण्ड शीघ्र कम हो सकता है।

मेरा यह कटाक्ष न केवल विदेशी वस्त्रो की ही तरफ है, पर उन वस्त्रो की तरफ भी समझिए जो भारत की मिलो मे तेयार होते हुए भी चर्वी आदि से वचे हुए नही हैं।

जरा विचार तो कीजिए कि आप किसकी सन्तान ह? आप उन वीर क्षत्रियो की सन्तान हे जिन्होने दूसरो की रक्षा के लिए अपने शरीर का मास काट कर दे दिया था। पर उस शरणागत का एक वाल भी वाका न होने दिया। आप लोग उस वीर का नाम जानते हे? उस वीर का नाम था– राजा मेघरथ।

एक दिन की बात है, राजा मेघरथ अपने धर्मस्थान मे बैठा हुआ था। एक भयभ्रान्त कबूतर उडता हुआ उनकी गोद मे आ गिरा। बोला– राजन! मे आपकी शरण मे हू, मेरी रक्षा कीजिए। राजा ने आश्वासन देते हुए कहा– तुम जरा भी मत डरो, मे तुम्हारी हर प्रकार से रक्षा करूगा।

इतने मे एक शिकारी (पारधी) दोडता हुआ आया। वह लगोट पहिने हुए था। उसका शरीर काला, होठ मोटे, केश विखरे हुए ओर आखे लाल थी। वह बोला– राजा, मेरा शिकार दे। राजा ने शान्ति से कहा– भाई, मैं इसे नही दे सकता। यह मेरी शरण मे आ गया है।

❖ जिस समय यह पुस्तक लिखी गई उस समय आता था।

शिकारी— बस—बस, मेरा शिकार फेक दो! नही तो ठीक न होगा।

आजकल के सरीखा कोई राजा होता तो उसे धक्के देकर उसी वक्त निकलवा देता, पर मेघरथ राजा ऐसा न था। वह दुष्टो पर भी दया करने वाला और क्रूरो को भी सुधारने वाला था। राजा ने उससे पूछा— भाई! इसका क्या करोगे?

शिकारी— क्या करूगा? अपना दु ख मिटाऊगा, मुझे भूख लग रही है।

राजा— भूख लग रही है, तो तुझे खाने को देता हू, चाहे सो ले ले।

शिकारी— क्या तू मुझे धर्म का देना चाहता है? मै धर्म का नही लेता, मै अपने उद्योग से अपना पेट भरता हू।

राजा— बहुत अच्छा। सशक्त गृहस्थ को भीख तो लेनी ही नही चाहिए, मैं तुझे भीख नही देता, पर चीज लेकर चीज देता हू। मुझे यह कबूतर पसन्द आ गया, मै इसके बदले मे तू मागे सो देने को तैयार हू।

शिकारी— ऐसा? अच्छा, जो मै मागूगा वह देगा?

राजा— बराबर।

शिकारी— देखना, अपनी जबान से फिर मुकर मत जाना, मैं ऐसी—वैसी चीज मागने वाला नही हू, या मुझे अपना शिकार दे दे।

राजा— कबूतर को छोडकर चाहे सो माग ले, सब—कुछ देने को तैयार हू।

शिकारी— अच्छा तो, मुझे इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मास दे दे।

मित्रो! राजा मेघरथ अपने शरीर को नाशवान समझकर इस बात को कबूल करता है और अपने शरीर का मास काटकर दे देता है।

कई जगह इस कथा मे आए हुए पारधी के स्थान पर बाज का भी वर्णन पाया जाता है।

जिनके पूर्वज एक प्राणी की रक्षा के लिए अपने शरीर का मास काट कर देना कबूल कर लेते है, पर प्राणी की हिसा नही होने देते, अब उन्ही की सन्तान अपने तुच्छ मौज—शौक के लिए हजारो प्राणियो के नाश को देखकर भी हृदय मे दया न लावे, तो उसे क्या कहना चाहिए?

आपके पूर्वज बिना चर्बी का, देश का बना हुआ कपडा पहनते थे, जिसे आज के लोग 'खादी' के नाम से पुकारते है। खादी के उपयोग से न केवल पैसे की ही बचत होती है, पर धर्म भी बचता है। विलायती कपडो का जब इस देश मे प्रचार नही था, तब लाखो मनुष्य इसी धधे के द्वारा अपने पेट भर

लेते थे। इतिहास कहता है कि बाद मे अग्रेजो ने उन बेचारे गरीबो के अगूठे कटवा लिए और अपने देश (विलायत) के वस्त्रो का यहा प्रचार बढा दिया। मिल भी यहा आ गए। इन मिलो से देश के मनुष्यो की कम क्षति नही हुई। सेकडो मनुष्यो की रोटी पर कुछ मनुष्य ही हाथ साफ करने लगे और बाकी के भूखो मरने लगे। देश का सौभाग्य समझिए कि देश के कई हितैषियो ओर नेताओ ने इस भयकर अत्याचार को पहचाना ओर चर्खे का पुनर्निर्माण किया। चर्खे के द्वारा आज फिर से सैकडो भाई–बहनो की रोटी हाथ आने लग गई है। जो भाई खादी का उपयोग करता है' वह गुप्त रीति से इन गरीब भाई–बहनो को मदद पहुचाकर पुण्योपार्जन करता है, ऐसा आज के नेता स्पष्ट समझाते है। उनका कथन है कि 'खादी सादी और देश की आजादी' है।

जो देश वस्त्र और रोटी के लिए दूसरे का मुह नही ताकता वह कभी पराधीन नही हो सकता। जो इन दो बातो के लिए दूसरो की तरफ देखता है, वह गुलाम बने बिना नही रह सकता। यह देश वस्त्र से तो गुलाम बन ही चुका है, अब रोटी के लिए भी दूसरे के पास हाथ पसारने लग गया हे। रोटी से, आप अपने घर की जैसी रोटी की ही बात मत समझ लेना। रोटी से, यहा खान–पान की चीजो से मतलब हे। बिस्कुट विलायत से आते है, आपके कई देश–भाई मजे से खाते है। यह रोटी की पराधीनता नही तो और क्या है? सुनते है, देश मे वेजिटेबिल नाम का नकली घी (!) तो फैला ही था, अब एक प्रकार की लकडी का आटा भी आने लग गया है।

ये बिस्कुट, यह घी ओर यह आटा आपके शरीर का कितना नाश करने वाला है? बिस्कुट आदि खाद्य–पदार्थ किस प्रकार सडा कर बनाए जाते हे और आप लोग उनके डिब्बो पर के चटकीले, सुन्दर, मनमोहक लेबिल देखकर किस प्रकार खरीद कर पेट मे रख लेते हे?

पहले के लोग देशी सादी जूतिया पहनते थे, पर अब आप मे से अधिकाश लोग विलायती बूटो का उपयोग करना ज्यादा पसन्द करते हैं। देशी जूती प्राय मृत्यु से मरे हुए जानवरो के चमडे से बनती है, पर विलायती बूटो के लिए सैकडो पशुओ का कत्ल किया जाता हे। चमडा जितना मोटा और मुलायम हो, उतना ही वह अच्छा गिना जाता हे। इसके लिए हतयारे लोग पशुओ को पहले खरीद लेते हैं, बाद मे कई दिनो तक भूखे रख कर उनकी चर्बी गला देते हे। फिर लट्ठो की मार से, वे इस कदर बुरी तरह से मारते हैं कि उनका सारा शरीर रोटी की तरह फूल जाता हे। अन्त मे ये हत्यारे

कत्ल करने की मशीनो के आगे हरा–हरा कोमल घास डालते हैं। बेचारे अनेक दिन के भूखे–प्यासे अबोध पशु अपने पेट की तीव्र ज्वाला मिटाने के लिए ज्यो ही खाने के लिए उसमे मुह डालते है, त्यो ही मशीन की मोटी और चमकती हुई तेज छुरी कररर करती हुई उनकी गर्दनो पर बेरहमी से गिर कर उनके सिर को धड से अलग कर देती है। छटपटाते हुए उन पशुओ के शरीर मे से निकलती हुई खून की अनेक तेज धाराए और नाचती हुई उनकी पुतलिया देखकर उस समय किसका हृदय करुणा से न भरेगा? कौन उस वीभत्स दृश्य को देख रोमाचित न होगा? और कौन कठोरहृदयी उस अवसर पर न रो पडेगा? क्या मौज–शौक के तुच्छ सुख के लिए ऐसे भयानक हत्याकाण्ड का भागी बनना योग्य है? यदि नही तो आप सिर्फ बूट ही नही, पर ऐसे भयानक हत्याकाण्ड जिस वस्तु के बनाने के लिए किए जाते हो, उन सब का त्याग कर दीजिए।

क्या आप जानते है कि दया–देवी का मन्दिर कहा है? दया माता यदि हृदय मे होती, तो आपको दया के उपदेश देने की जरूरत ही न पडती। हृदय मे दया हो, तो ऐसी हालत मे दया–दया पुकारने की जरूरत पड सकती हे? नही।

जिसके शरीर मे चैतन्य है, उसे फिर कोई जलाएगा? नही।

क्या चैतन्य छिपा रह सकता है? नही।

जिस प्रकार आप लोग धर्म की स्थूल क्रिया करने के लिये यहा आये हो, उसी प्रकार दया का भी स्थूल रूप बाहर दिखालाइये, तब मालूम पडे कि आप मे दया हे।

'दया' शब्द दया–रक्षणे धातु से बना है। इसका अर्थ दूसरो पर अनुकम्पा (करुणा) लाना है।

आप को दया कहा करनी चाहिए? क्या केवल मेरे पास आकर? नही, मेरे पास तो आप करते ही है। दया का उपयोग वहा कीजिए, जहा बेकसूर हजारो मूक प्राणी छुरी के घाट उतार दिये जाते है, उनके गले पर खटाखट खजर चला दिया जाता है, उन बेचारो के खून का छोटा–सा नाला वह निकलता हे। किसी को दया माता का पूरा दृश्य देखना हो तो जहा दया पैदा होती हे, उस कत्लखाने के समान दु ख ओर कहा दिखेगा?

यूरोपियन सज्जन टाल्सटाय, एक बडे विद्वान् और विचारशील पुरुष माने गये हे। ये कोरे विद्वान् ही नही थे, पर उन्होने अपने जीवन को इतना उच्च बना लिया था कि एक आदर्श पुरुष भी माने जाते हैं। उनका जीवन

दृढप्रतिज्ञ था। उनके जीवन का एक–एक दिन ऐसा बीतता था कि उसकी छाप दूसरे मनुष्य पर पडे विना नही रहती थी। इसका इतना धर्ममय जीवन कसाईखाने को देखकर ही हुआ था। कहा जाता है कि ये हमेशा कसाईखाने मे पशुवध देखने जाते। वहा पशुओ के ऊपर छुरी चलने पर, उनकी तडफडाहट देखकर रोमाचित हो जाते, घबरा जाते और विचार करते कि हाय! यदि इसी प्रकार यह छुरी हमारे ऊपर चले, तो हमे कितना दु ख हो? हम कितने छटपटाए? ये बेचारे मूक प्राणी स्वतन्त्र नही हैं। इन परतन्त्रता की जजीरो से जकडे हुओ को छुडाने वाला कौन है? ये बेचारे परतन्त्र हैं, पर मारने वाला भी कोनसा स्वतन्त्र है? वह भी परतन्त्र हे। यदि परतन्त्र न होता तो उसे यह पापमय काम ही क्यो करना पडता? किसके परतन्त्र है, इनको किसने गुलाम बना रखा है? उत्तर मिलता है– तृष्णा, लोभ, मोह और अज्ञान आदि के ये दास हैं। वे मोह से रागान्ध मनुष्य उनके प्राण लेकर अपना काम बनाना चाहते हैं। वह उनका मास खाकर अपना मास बढाना चाहते हैं, उसको मारकर अपना पोषण करना चाहते हैं। उनके प्राणो की इन्हे मनिक भी परवाह नही। उनके दु ख से कुछ भी करुणा नही आती। पर इसे विचारना चाहिये कि यदि ऐसा ही समय मेरे लिये आयेगा तो मेरा क्या हाल होगा?

मनुष्य उस प्राणी को किस कसूर से मारता हे? किस अपराध से वह मारा जाता है? क्या उसने गाली दी है? क्या उसने कुछ हरण किया? ये बेचारे तमाम भद्र प्राणी हैं। इनमे से बहुत–से तो घास खाकर तुम्हारा रक्षण कर रहे हैं। ये प्रकृति की शोभा बढाने वाले हैं। इनको मार कर लोग अपना काम निकालते है तथा खाने मे मजा मानते है। इन मनुष्यो के मजा मे उन विचारो की कजा होती है। इस कजा मे मजा मानने वालो का कुछ हिसाब होता हे? 'हा।'

शास्त्र की बात इस समय कुछ न कह कर, पाश्चात्यो का इस विषय पर क्या मत हे, वेज्ञानिको ने इस पर क्या राय जाहिर की हे, यह सुनिये। वे कहते हें कि प्रकृति की वस्तुओ मे गति की प्रतिगति ओर आघात का प्रत्याघात होता ही रहता है। उदाहरणस्वरूप, एक पर्वत के पास जाकर आवाज दी गई कि 'तुम्हारा बाप चोर।' तो उससे प्रतिध्वनि निकलेगी– 'तुम्हारा बाप चोर।' जैसी ध्वनि की जाएगी, वेसी ही प्रतिध्वनि निकलेगी। अगर कोई अपेन बाप को चोर कहलाना चाहे, तो उसे कहे कि 'तुम्हारा बाप चोर।' यदि न चाहे तो न कहे। जिस प्रकार प्रतिध्वनि मे 'तुम्हारा बाप चोर

कहा, इससे तुम्हे दु ख होता है, ऐसा समझकर कभी किसी को कटु शब्द न कहने चाहिए। मगल से मगल और अमगल से अमगल होता है। गति की प्रतिगति और आघात का प्रत्याघात होता रहता है। जो पार्ट आज दूसरो से करवाते हो, वही पार्ट कभी तुम्हे भी करना पडेगा। साराश यह है कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे, तो तुम्हे कष्ट मिलेगा। तुम किसी के प्राण लोगे तो तुम्हे भी पाण देने पडेगे। शस्त्र से गर्दन उडाओगे, तो वापस गर्दन उडेगी। मास खाओगे तो अपने शरीर का मास खिलाना पडेगा।

हा, एक बात जरूर है। जीवन–निर्वाह के लिए प्रकृति की शोभा न बिगडे, इसको ध्यान मे रखकर सरलता से बिना किसी को दु ख दिये, अपने जीवन–निर्वाह का जो आयोजन किया जाता है, उसे अधर्म नही कह सकते। धर्म किसी का नाश नही चाहता। जो मनुष्य नीति से पैसा पैदा करता है, उसे कोई चोर–बदमाश कह कर दण्ड नही देता है, पर जो नीति–अनीति का कुछ भी खयाल न कर, केवल पैसो से अपनी जेब भरना चाहता है, उसे कोई क्या कहेगा? 'चोर–बदमाश आदि।'

उसे दण्ड मिलेगा? 'अवश्य'।

यही बात अपने निर्वाह–कार्य के लिये समझनी चाहिए। जो अपनी मौज–शौक के फितूर मे आकर मूक प्राणियो का वध करता है, उसे भी दण्ड मिले बिना न रहेगा।

माता के स्तन से बालक दूध पीता है। यह उसका स्वाभाविक धर्म है, पर जो बालक माता के दूध की जगह स्तन का खून पीना चाहता है, क्या उसे कोई बालक या पुत्र कहेगा? लोग उस बालक को बालक या पुत्र नही, पर जहरीला कीडा कहेगे।

यह प्रकृति गौ, भैंस, बकरी आदि से दूध दिलाती है। जगत् का इससे बडा उपकार होता है, पर लोगो की अजब ताकीद, इन उपकारी पशुओ का जल्दी खात्मा करके एक–दो दिन पेट भर कर ज्यादा दिन तक पेट भरने वाले घी दूध के स्रोत को बन्द कर देती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि फलो को धीरे–धीरे आते देखकर एकदम पाने के विचार से वृक्ष का मूलोच्छेदन कर दिया गया।

इन बिचारे मूक प्राणियो की वकालत कौन करे? गजब की बात है कि साक्षात इनकी करुणाभरी चीख को सुन कर भी हत्यारो का दिल पत्थर–सा क्यो रहता है? परतन्त्र है इसलिए। उन हत्यारो को काम, क्रोध, मोह आदि ने अपने वश मे इस प्रकार कर लिया है कि उन्हे कुछ सूझता ही नही।

आप लोगो मे से बहुत–से भाइ निमासाहारी है। वे अपने मन मे सोचते है कि मासाहारी ही पापी होते हैं, हम तो इस पाप से बचे हुए हैं। लोगो को दूसरे की बात की कडी टीका सुनकर मजा आता है, पर जब उनके स्वार्थ के काम की कोई टीका करता है तब उनको अच्छी नही लगती। अच्छी लगे या न लगे, सच्चा आदमी तो गुण–दोष बतला ही देता हे।

जो केवल मासाहारियो को ही पापी समझता हे, उसे चाहिए कि पहले अपने थोकडे आदि खोल कर देखे कि उनमे कितने प्रकार के पाप बतलाये है। क्या उन पापो को करने वाला पापी न गिना जावेगा? जैनशास्त्र मे 18 प्रकार के पाप माने गये है, जैसे झूठ, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। जो इन पापो का सेवन करे और धर्मात्मा बनने की डीग मारे, क्या वह वास्तव मे धर्मात्मा है? 'नही।'

जैन सिद्धान्त को यदि कोई ठण्डे मस्तिष्क से विचारे, तो पता चलेगा कि यह कैसा पूर्ण है। इसकी आदि से लेकर अन्त तक की तमाम बाते ठीक उतरती हैं। हिसाब करने वाले बहुत मिलेगे, पर आना–पाई तक का हिसाब मिलाने वाले को क्या आप बडा बुद्धिमान न कहेगे? 'कहेगे।'

'पाप से बचना चाहिए', धर्म करना चाहिए'– इस प्रकार बहुत–से भाई कहते है, पर पापो से बचने का और धर्म करने का बहुत कम भाई विचार करते है। कई भाई कसाई को बुरा कहते है, पाप समझते हैं, पर स्वय जालसाजी करने से बाज नही आते, कपट करने से नही चूकते। दूसरे पर दोष मढने मे नही चूकते। गरीबो के गले दबाने मे भय नही खाते। झूठे मुकदमे चलाने मे शर्म नही लाते। बिल्कुल खोटी गवाहिया दिलाने मे पैर पीछे नही रखते। दूसरे के धन को स्वाहा करने मे नही हिचकते। पराई स्त्रियो पर खोटी नजर रखने मे घृणा नही लाते। कहा तक कहे, ये पाप करते हैं, पर पापी कहलाने मे अपनी तौहीन समझते हें। कसाई छुरी फेर कर कत्ल करता हे, पर ये कलम को चला कर ही कई बार कइयो की एक साथ हत्या कर डालते हें। बेचारा कसाई हत्या करके हत्यारा कहलाता है, पर ये कई हत्याए करके भी धर्मात्मा बने रहते हें। ये लोग यह नही समझते कि जैसे हम फसाते हे, वेसे हम भी फसाये जायेगे। हम मारते हे, पर कभी हम भी मारे जाएगे। आघात का प्रत्याघात हुए बिना न रहेगा।

शास्त्र कहता है कि एक बार तमाम प्राणियो को अपनी आत्मा के तुल्य देखो, फिर पता लग जाएगा कि दूसरो का दु ख केसा होता है?

'आत्मोपम्येन पुरुष प्रमाणमधिगच्छति।'

आत्मा के तुल्य तमाम पाणियो को देखने पर दु ख–सुख की साक्षी तुम्हारा हृदय अपने–आप देने लग जाएगा। आपको शास्त्रो के देखने की जरूरत न रहेगी, सच्चिदानन्द अपने–आप शास्त्र का सार समझ लेगा।

मनुष्य को दूसरे के भले–बुरे कामो की मालूम पड जाती है, पर उसमे स्वय मे कैसे–कैसे भले–बुरे गुण है, यह बहुतो को मालूम नही पडता। उनको तो तभी मालूम पडता है, जब लोग उनके दोषो पर कुछ टीका–टिप्पणी करते है। जो मनुष्य अपने दुर्गुणो की टीका देखकर उनको सुधारने की कोशिश करता है, वह भी बुद्धिमान गिना जाता है।

अपनी आत्मा हिसा को देखकर' शिकारी को देखकर उसे क्रूर, दुष्ट कहता है, पर अपनी आत्मा ने भी अनेक बार जीवो को मारा होगा, उन्हे कष्ट पहुचाया होगा। इसलिए हे आत्मा! अब तू शिकारी नही है, हिसक नही है, यह तू समझ गया हो तो अब अज्ञान के जाल मे मत पडना। ऐसी भावना कीजिए। इस भावना सो आपकी आत्मा मे अजीब शक्ति चमत्कृत होगी और आपको थोडे ही दिनो मे आनन्द का अनुभव होने लगेगा। यह आनन्द थोडे प्रमाण मे न मिलेगा, पर इतने प्रमाण मे मिलेगा कि आप उस आनन्द की भेट दूसरो को भी कर सकोगे। एक बार जरूर है, और वह यह है कि यह भावना स्वार्थ की न हो। इस भावना मे मुझे धन मिले, पुत्र मिले, स्वर्ग मिले, मै–। इतना वैभवशाली बनू, राजा बन जाऊ, बादशाह बन जाऊ, ऐसी आकाक्षा न हो। भावना अपने स्वार्थ के लिये न हो, पर ससार की कल्याण–कामना की हो। उसमे प्रार्थना की जाए कि–

दयामय, ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवन की कल्याण कामना, दिन–दिन बढती जाय ।।टेक।।
औरो के सुख को सुख समझू, सुख का करू उपाय।
अपने सब दु खो को सहलू पर–दु ख सहा नहीं जाय।।1।।
भूला–भटका उलटी मति का, जो है जन–समुदाय।
उसे दिखाऊ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय।।2।।

जब आप ऐसी भावना करने लग जाएगे तब आपकी आत्मा मे अपूव्र जागृति होगी। आपका सच्चिदानन्द–रूप प्रकट हो जाएगा और मुस्कराते हुए घोषणा करोगे कि –

मित्ती मे सव्व भूएसू।◆

अभी तो कई लोग परदेशो से धन कमा लाते है और यहा (मारवाड में) आकर व्यर्थ की बाते किया करते है। एक उक्त घोषणा होने पर, क्या आप इस प्रकार निकम्मे बैठे रहेगे? उस समय आपको एक क्षण का विश्राम लेना

◆ "सब प्राणी मेरे मित्र है।"

भी औचित्य से परे मालूम होगा। उस समय आपके जीवन की वह धारा, जो प्रबल वेग से नीच स्वार्थों के गहन गह्व मे पतित हो रही है, नि स्वार्थ मन्दाकिनी का रूप धारण कर, धराधाम पर शान्त–गम्भीर गति से प्रवाहित होने लग जाएगी। आपके जीवन की वह धारा, जो अभी ईर्ष्या, क्लेश, दु ख, सन्ताप आदि के विषैले पौधो को वढाने मे सहायक बनती है, उस समय प्रेम–हर्ष, आनन्द, सान्त्वना आदि की वल्लरियो को नव–पल्लवित करने मे आधारभूत होकर, अखिल विश्व के सव प्राणियो की गुप्त रूप से सेवा बजायेगी।

आपको शास्त्र मे 'धम्म सहाया', अर्थात् धर्म के अन्दर सहायता देने वाला कहा है। क्या गप्पे मारने वाले कभी धर्म के सहायक कहला सकते हैं? धर्म के सहायक वे ही कहला सकते हैं जो स्वय धर्म–नियमो का पालन करते है तथा सच्चे हृदय से प्रेममयी भाषा मे दूसरो को उसका बोध कराते है।

गप्प मारने वाले स्वय तो पाप बाधते ही हैं, पर दूसरो से भी बधवाते हैं। क्योकि थोथी गप्पो मे दूसरो की निन्दा, दूसरो की चुगली और दूसरो की खोटी–चोखी ही का मुख्य विषय चलता रहता है। आज आपस मे खूब फूट बढ रही है, इसका मुख्य कारण भी ऐसी अनावश्यक बाते ही है जो गप्पे कहलाती है। यदि आपको कुछ काम नही है, तो व्यर्थ की बाते मत करो, फिजूल गप्पे न उडाओ। इन बडबडाहटो से आपकी आध्यात्मिक शक्ति कम हो जाती है। अवकाश के समय मोन का अबलम्बन करो। मौन साधारण को शक्तिमान पुरुष बना देता है। जब किसी एजिन की शक्ति को काम मे लाना होता है, तब मशीन चलाने वाला कारीगर उस मशीन की शक्ति को सचित कर लेता हे। बुद्धिमान भी उस एजिन चलाने वाले कारीगर की तरह अपने मस्तिष्क की शक्तिया एकत्रित करके उन्हे रोकी हुई रखता हे तथा जब ओर जहा चाहिए, वही उनका उचित ओर सशक्त प्रयोग करके वह अपने आवश्यक कार्य को सफलता के साथ सम्पादन कर लेता हे। बकझक करने वाले मे यह शक्ति नही होती।

यदि व्यर्थ की बकझक की टेव लोगो मे न होती, फिजूल की निन्दा करने का अभ्यास लोगो मे न होता, अकारण गप्पो के लिए लोग अपने अमूल्य समय का नाश न करते, तो समाज मे दलबन्दिया धडे ओर पार्टिया कभी नही दिखलाई देती।

मै पहले कह चुका हू कि द्वेप फेलाना हिसा मे गिना गया हे, अतएव द्वेप–बुद्धि छोड दीजिए। आप 'ओरो के सुख को देखकर कभी न जलूगा'–

इस मत्र का जाप कीजिए, पवित्र बन जाएगे। आप चाहे वेद सुने, पुराण सुने या कोई धर्मशास्त्र सुने, सबमे यही बात सार है।

कई भई कह सकते है कि दूसरो के सुख से हमे क्या फायदा? किन्तु आप इस भेद के पर्दे को उठा डालिए, फिर देखिए क्या आनन्द आता है? आप यदि इस पर्दे को उठा देगे तो ईश्वर के दर्शन हो जाएगे–

मैं जानू हरि दूर है, हरि है हिरदा माय।
आडी टाटी कपट की, तासे सूझत नाय।।

परमात्मा तो फरमाते है कि 'हृदय शुद्ध करो, विश्वास रखो, तत्क्षण आत्म–दर्शन पा जाओगे।' इसके बिना उसकी भेट के लिए भटकते ही रहो, पर कही न पाओगे।

हृदय–शुद्धि का उपाय वही है जो मैने ऊपर बतलाया है। अर्थात् दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्या नही करना, किन्तु सतुष्ट होना, यही हृदय–शुद्धि का उपाय है।

मेरा अनुमान है, ऐसी हृदय–शुद्धि कई लोगो ने नही की। वे लोग करे कैसे? यदि किसी के मकान मे सरकार मुफ्त मे नल, बिजली या पखे लगवा दे, तो वह अपने तई धन्य समझता है और राजा की दृष्टि मे सबसे अधिक सम्माननीय मै ही हू, ऐसा सोचकर वह सुख से फूलता है। किन्तु यदि कही राजा मेहरबानी करके राव–रक, धनी–गरीब सबके घरो मे वही बिजली, नल या पखा बिना टैक्स लिए भेज दे तो उस धनी को अपने अकेले को मिलने मे जो सुख था, वह सुख फिर उसे अनुभव नही होगा। फिर वह इस उपकार को उपेक्षा–दृष्टि से देखता हे। कहता है कि इसमे क्या है, यह तो सबके यहा हे। सबके घरो मे लगने से इसके नल–पखे मे कोई खराबी नही आई है, जिससे इसके चित्त मे रज हो, परन्तु इसके चित्त मे दूसरे के सुख के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है। इसी के उसके हृदय मे दु ख हुआ। इसके अतिरिक्त उपरोक्त सामग्रियो मे सुख मानना भी केवल ईर्ष्या मात्र से था। औरो के पास ये सामग्रिया न होने से यह अपने मन मे सुख मानता था। वही सामग्री दूसरो को मिलने से इसके बडा दु ख हुआ। अत सिद्ध हुआ कि ईर्ष्या ही बडी हे, नल, पखे आदि नही। इस प्रकार की द्वेष–बुद्धि छोड दो और उपरोक्त मत्र का जाप करो।

रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और पाडवो की स्तुति लोग क्यो करते है? इसके विरुद्ध रावण, कस ओर कौरवो को लोग धिक्कार क्यो देते हे? इसलिए कि वे दूसरो के दु ख को अपना दु ख और दूसरो के सुख को अपना सुख समझते

थे। स्मरण रहे– पाडव, रामचन्द्रादि वीर थे और वीरो से ही दया (अहिसा) होती है। अहिसा क्षात्रधर्म के बिना नही पाली जाती। बनियाशाही के हाथो मे जब से अहिसा आई है, तब से वह कायरो का चिह्न बन गई है। ओसवाल भाई किसी जमान मे क्षत्रिय थे। आपके अन्दर क्षत्रियत्व का रक्त है। जितने तीर्थंकर हुए हे, वे सब क्षत्रियवश मे उत्पन्न हुए है। यह धर्म (अहिसा) कायरो का नही है।

अहिसा–धर्म को समझने वालो मे यह गुण होता हे कि वे दूसरो के दु ख को अपना दु ख और दूसरो के सुख को अपना सुख समझते है। ऊपर जिन रामचन्द्र का नाम कहा है, उनके त्याग की बात सुनकर यह बात आप लोगो की समझ मे आ जाएगी।

जिस समय महाराज दशरथ के लिए कैकेयी को दिया हुआ वरदान पूरा करने का समय आया, तब पितृआज्ञा–पालन करने, भ्रातृभाव का आदर्श उपस्थित करने एव झगडा मिटाने के लिए अपने को मिलता हुआ राज्य छोड कर रामचन्द्रजी ने वन की ओर प्रस्थान कर दिया। इतना अपूर्व स्वार्थ–त्याग करके, उन्होने जगत् को समझा दिया कि पिता की आज्ञापालन, बन्धु का प्रेम और स्वार्थ–त्याग का क्या महत्त्व है! जो लोग ईर्ष्यालु है, वे इस बात को न समझने से ही इस सद्गुण के अधिकारी नही होते।

मित्रो! आप मे ऐसा भ्रातृ–प्रेम है? आज भाई–भाई छोटी–छोटी बात के लिए सिर फोडने को तैयार हो जाते है। कोर्ट तक मुकदमा चलता है। मैंने सुना कि मुम्वई मे दो भाइयो ने अपने धन का बराबर हिस्सा बाट लिया पर बडे भाई का बोया हुआ एक सुपारी का पेड छोटे भाई की जमीन के हिस्से मे आ गया। बडे भाई ने कहा– मेने इस पेड को बोया है, इसलिए इस पेड पर मेरा हक है। उत्तर मे छोटा भाई बोला– तुमने बोया तो क्या हुआ, मेरे हिस्से की जमीन पर है इसलिए एक वर्ष सुपारी तुम लो ओर एक वर्ष हम। बडे भाई ने यह बात न मानी। आखिर कोर्ट मे मुकदमा चला। लाखो रुपये खर्च हो गए। जज एक दिन उस पेड को देखने आए। देखकर कहा– काट दो इस नाशकारी पेड को, जिसके कारण इतनी तकलीफ उठानी पडी। आखिर पेड काटा गया तब जाकर कही उन भाइयो को शान्ति आई। सुपारी का पेड काटना उन्हे श्रेय लगा, परन्तु एक के पास रखने या आधा–आधा लेने के लिए वे राजी न हुए।

कहा यह भाइयो का नाशकारी मुकदमा ओर कहा राम का भाई के लिए राज्य ठुकरा देना!

यहा पर मोटी–मोटी बातो का थोडे मे दिग्दर्शन कराया है। हिसा और अहिसा का विषय महान् है। सम्पूर्णता से कहना, हमारी बुद्धि से परे की बात है। शास्त्र के अन्दर गणधरो ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। सद्‌गुरु के द्वारा उनके परिश्रम का लाभ लेना बडा सुखदायी होगी।

हिसा और अहिसा के भेद इसलिए समझाए है कि जैसे जौहारी अपने लडको को हीरा, माणिक, मोती को जिस समय बतलाये, उस समय उसे नकली हीरा, माणिक, मोती की परीक्षा भी बतला दे तो उसे बडा लाभ होता है। जब वह लडका सामने रखे हुए हीरा, माणक, मोतियो मे से नकली हीरा, माणिक, मोती छाट कर अलग रख दे, तब समझना चाहिए कि वह पूरा जौहरी बन गया है। वह इनका व्यापार करे या न करे, यह बात जुदी है। पर यह तो निश्चय है कि व्यापार करना उसके लिए बडी बात नही है। इसी तरह जो हिसा–अहिसा के स्वरूप को समदृष्टि के प्रताप से समझ गया, उसके लिए बुरे को त्यागना कोई कठिन काम नही है।

7 सासारिक कार्य और अहिसा

यह बात तो आप जानते ही है कि सासारिक कार्यों मे प्रवृत्त होना साधु का काम नही है। यह काम गृहस्थो का माना गया है। साधु उस कार्य मे इसलिए प्रवृत्त नही होते कि वे आरम्भयुक्त होते है। सच्चा साधु आरम्भ का कोई काम नही करता। शास्त्र मे साधु को निरारम्भी कहा है। सासारिक कार्यों मे धनादि का होना आवश्यक माना गया हे। साधु जब सासारिक कार्यो मे हाथ डालना ही नही चाहता तब वह पैसा आदि क्योकर अपने पास रखेगा? पैसा आदि पास न रखने से ही साधु को अपरिग्रही भी कहा है।

जिस प्रकार शास्त्र मे साधु को निरारम्भी, निष्परिग्रही कहा हे, उसी प्रकार श्रावक–गृहस्थ को अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही कहा गया है। यहा गृहस्थ के साथ श्रावक शब्द हमने जान–बूझकर रखा है। कारण, गृहस्थाश्रम मे रहने वाला श्रावक अवश्य ही अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही होता हे। तीसरा दर्जा महारम्भी महापरिग्रही का है, जो सासारिक सुखो मे सदैव मुर्च्छित रहता है ओर आरम्भ–परिग्रह को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझता है। अतएव वह महारम्भी और महापरिग्रही कहा जाता है।

इससे आप यह मत समझिए कि श्रावक इहलौकिक सुख से वचित रहता है या वचित रहने के लिए उसे उपदेश दिया गया है। नही, श्रावक के

लिए ऐसा नियम नही है। श्रावक इहलौकिक सुखो के लिए प्रयत्न करता और सुख भी भोगता है, पर उन्हे अपने जीवन का उद्देश्य नही समझता। मिथ्यात्वी मे और श्रावक मे यही एक बडा भारी अन्तर है।

दूसरा अन्तर यह है कि श्रावक को स्थूल हिसा का सर्वथा त्यागी तो होना पडता ही है, जहा तक बन पडता है, सूक्ष्म की भी रक्षा का ध्यान रखता है। हा, पहला काम उसका स्थूल जीवो की रक्षा करना है। मिथ्यात्वी मे प्राय यह बात नही होती। मौका पडने पर, वह नियम की हद के पार भी काम कर बैठता है।

हमने ऊपर जिस श्रावक के गुण बतलाए हैं, वे विवेकी श्रावक के समझने चाहिए। आजकल के केवल नामधारी श्रावको मे यह गुण बहुत कम देखे जाते है। सच्चे उपदेश को नही मानने से या सच्चे उपदेश देने वालो का सयोग न मिलने से, उन्हे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्तव्याकर्तव्य को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण ही बहुत–से भाई कर्तव्य के पालन मे ढीले दिखाई देते है। यह दोष केवल उन भाइयो का ही है, ऐसा एकान्त नही है, किन्तु उनको कर्तव्याकर्तव्य का सच्चा ज्ञान समझाने वाले सच्चे उपदेशक भी थोडे मिलते है। मेरी समझ मे यह दोष उपदेशको का भी है कि वे क्रमश कर्तव्य पालने का उपदेश कम देते है या शास्त्रो का यथार्थ मर्म कम समझाते हें।

याद रखिए, जो साधु के सूक्ष्म कर्तव्यो का सर्वसाधारण गृहस्थ से पालने को कहता है, वह उसे अपने मार्ग से च्युत करता है। कुछ लोगो ने गृहस्थ (श्रावक) के सिर पर स्थावर जीवो की रक्षा करने का भार इतना डाल दिया कि वे इसका विशेष ज्ञान न रखने से, स्थूल हिसा से भी न बच सके। गृहस्थ के लिए मुख्य रूप से स्थूल हिसा से बचने का विशेष आग्रह किया गया है। यदि स्थूल के सिवा सूक्ष्म (स्थावर) हिसा से ही बचने का मुख्य कर्तव्य होता, तो शास्त्र मे 'थूलाओ पाणाइ वायाओ वेरमण' के बदले 'सुहमाओ या सव्वाओ पाणाइ वायाओ वेरमण' व्रत श्रावक को बतलाते।

शास्त्रकार ने पानी के अन्दर ही नही, पानी की एक बूद के अदर असख्यात जीव बतलाए हें। अब कोई पानी का प्यासा आया, उसने पानी मागा। श्रावक ने पानी पिला दिया। कई भाई यहा कह बेठते हे कि एक पचेन्द्रिय जीव की रक्षा के लिए असख्यात जीवो का नाश हो गया, इसका जवाबदार कोन? पर हम शास्त्र मे जहा तीर्थकरो ने हिसा का वर्णन किया है, वहा देखते हैं कि पचेन्द्रिय जीवो के सामने सूक्ष्म जीवो को उतना महत्त्व

नही दिया गया है। क्योकि अल्पारम्भी के लिए ऐसे मार्ग का ग्रहण करना, प्रत्येक अवस्था मे सुगम एव कल्याणजनक नही होता। पचेन्द्रिय यानी स्थूल जीवो का ससर्ग, उसे विशेषता के साथ उस अवस्था मे ले जाने के लिए समर्थ नही होता कि जिसे निरारम्भी और निष्परिग्रही कहते है। विवेकी श्रावक–गृहस्थ सूक्ष्म जीवो की हिसा से नही बच सकता। पचेन्द्रिय जीवो के पोषणार्थ तथा स्वदेह निर्वाहार्थ जलादि पदार्थों का उपयोग करना उसके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा जब श्रावक इस तरह से जलादि का सग्रह करके आरम्भी बन चुका और उसकी चेष्टा स्पष्ट रूप से उस पदार्थ को किसी भी प्रकार से इस रास्ते मे व्यय करने की है, उस अवस्था मे किसी को उस वस्तु का उपभोग करवा देने से उसे हिसा का नया पाप लगा, यह कैसे समझा जा सकता है? क्योकि शास्त्रो मे उल्लिखित जो अनुकम्पा का महत्त्व है, वह इस बात का समर्थक है कि नि स्वार्थभाव से यदि अनुकम्पा की जाय, तो वह कर्म–बन्धन से बाधने वाली नही है, अर्थात् इस तरह हिसा का दोष एकान्त रूप से उस पर लागू नही होता। कोई व्यापारी किसी तरह का व्यापार करे और उसे उस व्यापार मे हर तरह से खूब खर्चा भी करना पडे, पर ऐसा करने से यदि वह बहुत अच्छा लाभ प्राप्त कर लेता है, तो क्या वह किया हुआ खर्च कभी नुकसान मे परिगणित किया जा सकता है? नही। तो फिर किसी ने यदि जलादिक पदार्थ अपनी नाना प्रकार की जरूरतो को पूरा करने के लिए सग्रह कर रखा है, तो उससे अनुकम्पा–रूपी एक महान् लाभ प्राप्त कर लेवे, तो वह हिसा मे कैसे गिना जा सकता है? हा, इस शास्त्रीय कथन के उच्च महत्त्व को वही समझ सकता है जो निष्पक्ष भाव से इसका मनन कर चुका हो।

साथ ही इस बात को भी नही भुलाया जा सकता कि किसी गृहस्थ को साधु द्वारा उक्त उपभोग्य वस्तुओ का देना वर्जित है, पर गृहस्थो द्वारा दिया जाना कही भी मना नही है। क्योकि शास्त्रो मे गृहस्थ और साधु का कल्प एक नही है। गृहस्थ सचित जलादिक वस्तुओ का अपनी विविध आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से सग्रह करके रखता है और उसमे उसको हिसा होती ही है, तो उससे यदि वह अनुकम्पा रूपी महान् लाभ की प्राप्ति भी कर ले, तो वह सर्वथा हिसा मे कैसे गिना जा सकता है? इसलिए व्यक्ति को अनुकम्पा मे हिसा का मिथ्या आभास मानकर कभी भी अपने महान् कर्तव्य से च्युत नही होना चाहिए। शास्त्रो म कही भी अनुकम्पा को हिसा मे परिगणित नही किया है।

पचेन्द्रिय जीवो की हिसा करने वाले को नरक गति मिली, ऐसा पाठ पढने मे आया है, पर सूक्ष्म जीवो की हिसा करने से भी मिली हो, ऐसा पाठ देखने मे नही आया। इस प्रश्न का विशेषखुलासा नेमीनाथजी के विवाह से कीजिए।

21 तीर्थंकरो ने यह बात प्रसिद्ध की थी कि नेमिनाथ बालब्रह्मचारी रह कर दीक्षा लेगे। शास्त्र–प्रसिद्ध होने से तथा नेमिनाथ स्वय तीन ज्ञान के धारक होने से, इस बात को जानते थे कि मैं बालब्रह्मचारी रहकर दीक्षा लूगा। फिर उन्होने यह विवाह का नया आडम्बर क्यो स्वीकार किया? इसीलिए कि यादवो मे महाहिसा घुस गई थी। उस हिसा को दूर करने के लिए विवाह–प्रसग को लेकर बाडे मे बधे हुए पशुओ को करुणा भाव से छुडाया और महात्याग का जगत् को प्रभाव बतलाया। यदि स्थावर जीवो की हिसा, पचेन्द्रिय जीवो से सदृश ही होती, तो भगवान नेमिनाथ ने विवाह के प्रसग पर स्नान की कुण्डी मे बहुत जल इकट्ठा किया था, उस समय असख्यजल–जीवो को देखकर ही कह देते कि मेरे स्नान के लिए असख्य जीव मारे जाते है, इसलिए यह हिसा मुझे श्रेय नही है। पर ऐसा कहे बिना ही स्नान करके हाथी पर विराजमान हो, ठाट–बाट के साथ बरात के जुलूस को साथ ले उग्रसेन के महल पर गये। वहा बाडे मे जीवो को देखकर जगत् के जीवो को स्थूल जीवो की दया का माहात्म्य बताने के लिए सारथी से पूछा–

अह सो तत्थ निज्जतो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
बाडेहि पिंररेहि च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए।।

अर्थात् ये सब सुख के अर्थी जीव, बाडे और पिजरे के अन्दर रोक कर किसलिए दु खी किए गए हे?

अह सारही तओ भणइ एए भद्दाउ पाणिणो।
तुज्झ विवाह कज्जमि, भोयावेऊ बहुजण।।
सोऊण तस्स वयण, बहु पाणि विणासण।
चिन्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जियेहिऊ।।

(उत्तराध्ययन)

सारथि ने उत्तर दिया– इन सब सुख के अभिलाषी भद्र प्राणियो को तुम्हारे विवाह के कार्य मे बहुत जनो को भोजन देने के लिए इकट्ठा किया गया हे।

सारथि के वचन को सुनकर महाप्रज्ञावान, जीवो के हितेच्छु नेमिनाथजी विचार करने लगे—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मति सुबहू जिया।
न मे एय तु निस्सेस, परलोए भविस्सइ।।

यदि मेरे विवाह के निमित्त बहुत प्राणी मारे जाते है, तो यह हिसा मुझे परलोक मे शान्तिदायिनी न होगी।

श्री नेमिनाथजी के अभिप्राय से, सारथि द्वारा सब जीव छोड दिये गये, तब उन्होने कुण्डल आदि सब आभूषण उतार कर वे उस सारथी को इनाम मे दे दिये।

अब विचार करने की बात यह है कि बहुत जीव उस जल की कुण्डी मे थे या उस बाडे मे? उत्तर यह होता है कि सूक्ष्म जीवो की सख्या से तो जल की कुण्डी मे असख्य जन्तु तथा अन्य जीवो की अपेक्षा से अनन्त जीव थे, परन्तु बाडे मे तो गिनती के ही पशु—पक्षी थे। बुद्धिपूर्वक समझना चाहिए कि यदि एकेन्द्रिय जीवो की रक्षा का, पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा के बराबर माहात्म्य होता तो भगवान् नेमिनाथजी अपने स्नान करने के समय ही यह बात कहते कि यह बहुत प्राणियो की हिसा मुझे शान्तिदात्री न होगी? वहा तो ऐसा हुछ भी न कहकर पशु—पक्षियो कु बाडे के सामने ही ऐसा कथन किया कि 'यह बहुत प्राणियो की हिसा मुझे शान्तिदात्री न होगी?' इससे स्पष्ट रीति से यह बात मालूम पडती है कि पचेन्द्रिय की रक्षा महारक्षा है। नेमिथानजी ने अपने सामने पशु—पक्षियो को छुडाकर उदाहरण उपस्थित किया है।

कोई तर्क कर सकता है कि 'पचेन्द्रिय की रक्षा मे एकेन्द्रिय जीव मारे जाय, तो एकेन्द्रिय जीवो की सख्या बहुत होने से पचेन्द्रिय की रक्षा की अपेक्षा एकेन्द्रिय के आरम्भ का पाप ज्यादा होगा।' यह कहना सर्वथा मिथ्या है। अगर ऐसा होता तो उस जीवदया को प्रकट करने के लिये स्नान आदि का आरम्भ और बरात जोडने का आडम्बर नेमिनाथ भगवान् कभी स्वीकार नही करते।

आजकल आप लोगो मे कर्तव्याकर्तव्य के विषय मे बडी गेर—समझ फैल रही है। अमृतलालभाई कहते थे कि एक प्रसूता बाई को प्यास लगी। उसने एक श्राविका बहन से पीने के लिये पानी मागा, पर उसने इसलिए नही दिया कि पानी देने से तेले का दण्ड आता हे। इस बहन ने यह तेले का दण्ड किसमे से निकाला? यह हमारी समझ मे नही आया। अमेरिका वाले यहा

पचेन्द्रिय जीवो की हिसा करने वाले को नरक गति मिली, ऐसा पाठ पढने मे आया है, पर सूक्ष्म जीवो की हिसा करने से भी मिली हो, ऐसा पाठ देखने मे नही आया। इस प्रश्न का विशेपखुलासा नेमीनाथजी के विवाह से कीजिए।

21 तीर्थंकरो ने यह बात प्रसिद्ध की थी कि नेमिनाथ वालब्रह्मचारी रह कर दीक्षा लेगे। शास्त्र–प्रसिद्ध होने से तथा नेमिनाथ स्वय तीन ज्ञान के धारक होने से, इस बात को जानते थे कि मैं वालब्रह्मचारी रहकर दीक्षा लूगा। फिर उन्होने यह विवाह का नया आडम्बर क्यो स्वीकार किया? इसीलिए कि यादवो मे महाहिसा घुस गई थी। उस हिसा को दूर करने के लिए विवाह–प्रसग को लेकर वाडे मे बधे हुए पशुओ को करुणा भाव से छुडाया और महात्याग का जगत् को प्रभाव बतलाया। यदि स्थावर जीवो की हिसा, पचेन्द्रिय जीवो से सदृश ही होती, तो भगवान नेमिनाथ ने विवाह के प्रसग पर स्नान की कुण्डी मे वहुत जल इकट्ठा किया था, उस समय असख्यजल–जीवो को देखकर ही कह देते कि मेरे स्नान के लिए असख्य जीव मारे जाते हैं, इसलिए यह हिसा मुझे श्रेय नही हे। पर ऐसा कहे विना ही स्नान करके हाथी पर विराजमान हो, ठाट–बाट के साथ बरात के जुलूस को साथ ले उग्रसेन के महल पर गये। वहा बाडे मे जीवो को देखकर जगत् के जीवो को स्थूल जीवो की दया का माहात्म्य बताने के लिए सारथी से पूछा–

अह सो तत्थ निज्जतो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
बाडेहि पिररेहि च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए।।

अर्थात् ये सब सुख के अर्थी जीव, बाडे और पिजरे के अन्दर रोक कर किसलिए दु खी किए गए हें?

अह सारही तओ भणइ एए भद्दाउ पाणिणो।
तुज्झ विवाह कज्जमि, भोयावेऊ बहुजण।।
सोऊण तस्स वयण, बहु पाणि विणासण।
चिन्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जियेहिऊ।।

(उत्तराध्ययन)

सारथि ने उत्तर दिया– इन सव सुख के अभिलापी भद्र प्राणियो को तुम्हारे विवाह के कार्य मे वहुत जनो को भोजन देने के लिए इकट्ठा किया गया हे।

सारथि के वचन को सुनकर महाप्रज्ञावान, जीवो के हितेच्छु नेमिनाथजी विचार करने लगे–

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मति सुबहू जिया।
न मे एय तु निस्सेस, परलोए भविस्सइ।।

यदि मेरे विवाह के निमित्त बहुत प्राणी मारे जाते है, तो यह हिसा मुझे परलोक मे शान्तिदायिनी न होगी।

श्री नेमिनाथजी के अभिप्राय से, सारथि द्वारा सब जीव छोड दिये गये, तब उन्होने कुण्डल आदि सब आभूषण उतार कर वे उस सारथी को इनाम मे दे दिये।

अब विचार करने की बात यह है कि बहुत जीव उस जल की कुण्डी मे थे या उस बाडे मे? उत्तर यह होता है कि सूक्ष्म जीवो की सख्या से तो जल की कुण्डी मे असख्य जन्तु तथा अन्य जीवो की अपेक्षा से अनन्त जीव थे, परन्तु बाडे मे तो गिनती के ही पशु–पक्षी थे। बुद्धिपूर्वक समझना चाहिए कि यदि एकेन्द्रिय जीवो की रक्षा का, पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा के बराबर माहात्म्य होता तो भगवान् नेमिनाथजी अपने स्नान करने के समय ही यह बात कहते कि यह बहुत प्राणियो की हिसा मुझे शान्तिदात्री न होगी? वहा तो ऐसा हुछ भी न कहकर पशु–पक्षियो कु बाडे के सामने ही ऐसा कथन किया कि 'यह बहुत प्राणियो की हिसा मुझे शान्तिदात्री न होगी?' इससे स्पष्ट रीति से यह बात मालूम पडती है कि पचेन्द्रिय की रक्षा महारक्षा है। नेमिथानजी ने अपने सामने पशु–पक्षियो को छुडाकर उदाहरण उपस्थित किया है।

कोई तर्क कर सकता है कि 'पचेन्द्रिय की रक्षा मे एकेन्द्रिय जीव मारे जाय, तो एकेन्द्रिय जीवो की सख्या बहुत होने से पचेन्द्रिय की रक्षा की अपेक्षा एकेन्द्रिय के आरम्भ का पाप ज्यादा होगा।' यह कहना सर्वथा मिथ्या है। अगर ऐसा होता तो उस जीवदया को प्रकट करने के लिये स्नान आदि का आरम्भ और बरात जोडने का आडम्बर नेमिनाथ भगवान् कभी स्वीकार नही करते।

आजकल आप लोगो मे कर्तव्याकर्तव्य के विषय मे बडी गैर–समझ फैल रही है। अमृतलालभाई कहते थे कि एक प्रसूता बाई को प्यास लगी। उसने एक श्राविका बहन से पीने के लिये पानी मागा, पर उसने इसलिए नही दिया कि पानी देने से तेले का दण्ड आता है। इस बहन ने यह तेले का दण्ड किसमे से निकाला? यह हमारी समझ मे नही आया। अमेरिका वाले यहा

आकर हमारे भाइयो पर दया करे, पर हम अपने भाई–बहनो के प्रति तिरस्कार करे, यह कहा का न्याय हे? मनुष्य पशु पर दया और छोटे–छोटे जीवो को बचाने की कोशिश करे, पर मनुष्य के प्राण जाते हो, उस तरफ कुछ भी ध्यान न दे, यह कितनी भारी नासमझी है? साधु को तो छ काय की हिसा का त्याग है, पर आपको नही है, फिर सूक्ष्म जीवो की ओट मे आप अपने कर्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाते हो, यह क्या उचित है?

दुनिया मे ऐसा कोई आरम्भ का काम नही, जिससे कर्मबन्ध न होता हो। काम को ज्ञानपूर्वक, विवेकसहित करने से पापबन्ध कम होता है और अज्ञानपूर्वक करने से भयकर पापबन्ध हो सकता है।

कई भई विचारते होगे कि रोटी बनाने वाली बहन पाप से नही बच सकती। मै कहता हू कि वह पाप से बहुताश मे बचती हुई पुण्य–प्रकृति का बन्ध भी कर सकती है। आप कहेगे 'कैसे?' इसका उत्तर है– 'जो बहन रसोई करने को अपने पर आया हुआ कर्तव्य समझती है, वह समझती है कि इस रोटी से बहुतो की आत्मा को शान्ति मिलेगी। अपने को मजदूरिनी न समझ कर यतनापूर्वक लकडियो को, कण्डो को और चूल्हे को साफ करती हुई, जीवो को बचाती हुई जो रसोई करती है, वह पाप–प्रकृति मे पुण्य–प्रकृति बाधती है। पर जो अपने को मजदूरिनी समझकर बेपरवाही से रसोई करती है और भोजन करने वालो को राक्षस समझती है, वह बहन पाप–प्रकृति मे और पाप–प्रकृति बाध लेती है।'

बहुत–सी बहने रसोई न करने मे अपने को पाप से बची हुई समझती है। पर मै कहता हू कि यह उनका खयाल एकान्त यथार्थ नही है।

आज की बहुत–सी बहनो का जीवन आलस्यमय बन गया है। वे शास्त्र के वास्तविक अर्थ को स्वय तो कुछ समझती नही ओर न समझने की कोशिश ही करती है। शास्त्र मे कहा क्या है? ओर यह काम मे किस ढग से लाती है? वे हम लोगो (साधुओं) के पास से घट्टी न फेरने की, पानी न लाने की, रसाई न बनाने की सौगन्ध लेती हे। वे समझती हैं कि ऐसा करने से हम पाप से बच जाएगी, पर इन बाइयो को इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि आटा खाना पडेगा, पानी पीना पडेगा ओर रोटी भी जीमनी पडेगी ही, फिर पाप से कैसे अलग रह सकेगी?

आज की बहनो के लिये रसोइया चाहिए। पानी लाने वाला चाहिये। आटा सीधा मोल आना चाहिये। ये तो सिर्फ गहने पहन कर आलस्यमय जीवन बिताने मे ही अपनी शान समझती हैं। केसी उलटी समझ! ये बहने यह

नही सोचती कि विवेकसहित रसोई करने मे, पानी लाने मे, आटा पीसने मे जितनी हम जीवो की रक्षारूप यतना कर सकती है, उतनी मजदूर या मजदूरनी कभी नही कर सकती।

आजकल के नौकरो की बेपरवाही पसिद्ध है। रसोई करने वाले नौकर द्वारा कई बार आटे मे जीव है या नही? इसका कुछ भी ध्यान न रख, अधाधुन्धी से आग जला, रसोई बनाकर रख दी जाती है। कई पानी वाले भी, मालिक पानी मगवाता है कुए का और वे आलस्य से नल से ही ले आते है। कुए पर जाते भी है तो कुछ छाना, कुछ न छाना पानी ले आते है। यही दोष कई घट्टी पीसने वालियो मे भी समझ लीजिये। क्या जितनी चिन्ता जीव बचाने की आप लोगो को होती है, इनको हो सकती है? 'कभी नही।' बहुधा गेहूँ आदि के साथ अन्य सैकडो प्राणी भी पीस लिये जाते है।

भाइयो, जरा विचार कीजिये कि यह सब पाप किसके जिम्मे आवेगा? कई लोगो ने समझ रखा है, कि दूसरे से काम कराने मे पाप से बचेगे और ऐसा करना पुण्यकर्म समझ रखा है, पर इससे तो उलटा अधिक पाप लगने की ही सम्भावना है।

सुना जाता है कि आजकल लोगो की प्रवृत्ति 'फ्लोर मिल' (आटा पीसने की चक्की) मे आटा पिसाने की ओर बहुत बढ रही है। याद रखिये, इन मिलो मे आटा पिसाने मे गेहुँओ का सार (पौष्टिक तत्त्व) जल जाता हे। दूसरी बात यह है कि घट्टी मे आटा पिसाना और इस मिल मे पिसवाना, इसमे जो पाप होता है उसमे भी बडा भारी अन्तर होता है। थोडी देर के लिये मान लीजिये कि आपने अपने सेर, दो सेर या पाच सेर, जितना भी आटा पीसा सिर्फ उसी का जितना पाप लगना होगा, लगेगा, पर आप जब गिरनी (मिल) मे आटा पिसवायेगे, तब चाहे एक सेर पिसवाया हो या एक मन, परन्तु सारी गिरनी मे जो महान् आरम्भ होता है, उसकी क्रिया आपको लगेगी। इसके सिवा मास और मछली बेचने वाले, गेहू खरीद कर उसी टोपली मे ले आते हैं और उसी गिरनी मे पिसवा ले जाते है जिसमे श्रावक लोग पिसवाते ह। अब उनके गेहुँओ का सस्कार इन पर कैसा पडेगा ? यह बुद्धिमानो को सोचना चाहिये।

आलस्य के कारण धर्म की ओट मे जो आटा पीसने का त्याग ले लेती है ओर धर्मिणी बन बैठती है उसे मैं तो तब धर्मिणी समझू जब वह गृहस्थी से निकल कर सर्वारम्भ का ही त्याग ले ले।

मैं मुम्बई के पास एक ग्राम मे था। तव कुछ काटियावाडी बहने दर्शन करने आई। उनमे एक बूढी बहन भी थी। बात चलने पर मैंने उनसे कहा– 'गिरनी मे पिसा हुआ आटा तो अव आप नही खाती हैं न? क्योकि इसमे भारी क्रिया लगती है।'

बूढी बोली– 'ए आटो खावामा मारो तो मन नथी मानतो, पर ए म्हारी बहुओ कहे छे के अमो मुम्बईनी सेठाणिओ थई, हवे हाथथी पीसवो ए सारू नथी।'

मैं—'ठीक, ए बेनो मुम्बईनी सेठाणियो थई एटले पीसवानी दु ख तो बीजा ने आपी, ए दु ख थी मुक्त थई। पण तमे तो गृहस्थ छो, एटले ए घटिया करता बधारे दु ख थाय छे, एवा कार्यो पण तमे हजू छोडया नथी जणाता। जेम के सतति प्रसव करवानु दु ख, जे एक महादु ख गणाय छे– ते तमे छोडी दीधे के? ज्यारे ए काम तमे नथी छोडी शक्या, तो घटिया पीसवाना दु ख ने लीधे, गिरणीनो भ्रष्ट अने महाआरम्भ थी पेदा थयेल आटो खावाथी तमारो पाप केम टले? अने सुधारो पण केम थयो गणाय?'

जो बाइयॉ, सन्तति–प्रसव जैसे महान् कष्ट से दूर नही हो सकती हैं और सन्तान के लिये नही करने लायक अनेक अनुचित पाप भी करती हैं, वे बहने अपने खाने का आटा पीसने का त्याग लेकर, गिरणी मे या दूसरे से आटा पिसवा कर धर्मिणी बनना चाहती हैं, तो यह उचित कैसे कहा जा सकता है?

इसी तरह मारवाड की बहनो को भी समझना उचित है कि मौज–शौक और आलस्य मे जीवन बिता कर व्यावहारिक कामो का बोझा दूसरे पर डाल देना, जिससे अल्पारम्भ के बदले महारम्भ पैदा हो, और उसका खयाल न करके आप धर्मात्मा कहलावे, यह उचित नही है। धर्मात्मा स्त्री–पुरुष, आलस्य और दु ख के मारे अपना बोझा दूसरे पर डाल कर धर्मात्मा बनने का ढोग नही रचा करते है।

भाइयो और बहनो! आप लोग शास्त्रो को देखिए और समझिये। यदि स्वय मे इतनी शक्ति न हो, उन तत्त्वो को न समझ सके, तो सद्गुरुओ से समझिये। जव आप शास्त्र–तत्त्व को समझ लेगे ओर यह जान जायेगे कि किस क्रिया के करने से पुण्य तथा पाप होता हे, तव पता लग जायेगा कि हमे क्या करना चाहिये? ओर उससे अनभिज्ञ रहने के कारण अभी क्या कर रहे हैं? इस ज्ञान के अभाव से लोग केवल देखा–देखी अनुकरण करते हैं ओर अल्पपाप मे भी महापाप मान कर विरोध करते है।

कई भाई सर्वव्रती साधु–मुनिराजो को आचार–विचार पालते हुये देख कर उनकी सूक्ष्म बातो का उसी माफिक अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते है। साधु किसी गृहस्थ को दान नही देते, इसलिए साधु के सिवा वे भी किसी को न दे। साधु (गृहस्थ को अनेक क्रियाओ द्वारा उनका जीवन निर्वाह–रूप) परोपकार नही करते, वैसे हम भी न करे। या साधु जिन कामो को न करे, ऐसे परोपकार के कार्य मे भी पाप समझे। यह समझना शास्त्र–विधि के अनजान व्यक्तियो का है। क्योकि सर्वव्रती मुनिराजो के आचार, कल्प और कल्प की मर्यादा अलग है और गृहस्थो की अलग। जैसे कि जिनकल्पी महात्मा अकेले रहते, मौन रखते, धर्मोपदेश नही देते, दूसरे साधुओ की वैयावच्च आदि कृत्य नही करते, यह उनका कल्प है। परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु जिनकल्पी की देखादेखी अनुकरण करके वैयावच्च करना, सघ की सेवा करना, परोपकार करना छोड दे, तो उसको निर्दयी कहा है। ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे मे "आयाणुकम्पे नाम एगे नो पराणुकम्पे।" अर्थात् 'कोई–कोई पुरुष अपने आत्मा की ही खान–पान से रक्षा करता है, परन्तु दूसरे की नही करता, वह या तो जिनकल्पी या प्रत्येकबुद्ध या निर्दयी कहा है।' शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि जिनकल्पी या प्रत्येकबुद्ध दूसरे की अन्न–पानी आदि से रक्षा न करे, यह उनके उत्कृष्ट उत्सर्ग मार्ग का कल्प है। परन्तु यदि स्थविरकल्पी साधु साधु की और गृहस्थ गृहस्थ की अन्न–पानी आदि से अनुकम्पा न करे, तो वह निर्दयी कहा जाता है। वैसे ही साधु–महात्माओ को जिन–जिन कामो के करने का कल्प नही है, उन–उन कामो को मुनिराज का कल्प बतला कर, अगर श्रावक भी परोपकारादि छोड दे तो उसे भी निर्दय समझना चाहिये। इसलिये साधु की देखादेखी परोपकार के काम गृहस्थ को छोड देना, विधिमार्ग का अज्ञान है।

साधुओ की भावशुचि अतिउत्कृष्ट होने से स्नान, दतधावन आदि द्रव्यशुचि, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये शास्त्र–विधि से उन्हे नही कल्पती है। यह देखकर कोई भोला जीव यह अर्थ निकाल ले कि जैसे साधु–महात्मा स्नान, दत–धावन आदि नही करते, यह उनकी मर्यादा है, इसलिये श्रावको को भी नही कल्पते, इसलिये नही करने चाहिये, यह श्रावक के कल्प से अनजानो का समझना है। क्योकि शास्त्र मे 'आनन्द' आदि श्रावको का आचार–कथन जहॉ चला है, वहॉ स्नान की और दन्तधावन आदि की विधि का कथन हे। परन्तु सदा करना कल्पता ही नही, ऐसा निषेध नही है। कोई मूर्खता से कहे

कि श्रावक को दन्तधावन आदि नही कल्पता, तो समझना चाहिये कि वह शास्त्र व श्रावक–धर्म से अनजान है।

शास्त्र मे गृहस्थाश्रम चलाने वाले श्रावक के लिये स्नान या दन्तधावन आदि बाह्य शुचि का निषेध नही किया है, बल्कि अविधि का निषेध किया है। हॉ, स्नानादि को श्रावक बाह्य शुचि समझता है, किन्तु अन्तरग भाव–शुचि यानी मोक्ष का साधन नहीं समझता। जैनेतर शास्त्रो मे भी कई स्थान पर स्नान को इसी रूप मे माना है। जो लोग, इस द्रव्य–भावशुचि के भेद को न समझ कर गृहस्थाश्रम मे रहते हुए गन्दे वस्त्रादिक रख कर लोगो मे यह कहते है कि गन्दा रहना, स्नानादि न करना, यह हमारा श्रावक का आचार है, तो ऐसा कहने वाला जैन धर्म के श्रावक की मर्यादा से अनजान है और धर्म की घृणा पैदा करने रूप पाप का भागी है।

साधु, मुनिराजो की आचार विधि श्रावको से बिल्कुल भिन्न है। अत श्रावक के लिये, साधुओ की क्रिया पालने का कही आदेश नही है। यह बात मै अपने मन से नही कह रहा हूँ, शास्त्र देखने से आपको भी इस बात का पता लग जायगा।

श्रावक को सोच–समझ कर ही किसी बात का त्याग लेना चाहिये, देखादेखी नही। साधुओ को भी त्याग कराते समय श्रावक की वस्तुस्थिति पर दृष्टि अवश्य डालनी चाहिये। यह नही कि जैसे कोई श्रावक बैठे–बैठे ही क्षणिक वैराग्य मे आकर सथारा लेने की इच्छा प्रकट करे और साधु वास्तविक स्थिति को न समझ कर त्याग करा दे। यदि श्रावक इस प्रकार का साधु से त्याग ले और साधु उसे करा दे, तो यह उनका बिल्कुल अज्ञान है। त्याग कराने वाले और लेने वाले को वस्तुस्थिति और त्याग के महत्त्व का ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान रखकर त्याग कराना शुद्ध त्याग हे।

मुनियो को अपनी विधि पालने के लिये, शास्त्र मे वर्णित किसी उच्च साधु को अपना आदर्श मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिये आनन्द आदि उच्च श्रावको के व्रत–प्रत्याख्यान की विगत, शास्त्र मे श्रावको के आदर्श के लिये ही ली गई है। यदि ऐसा न होता, तो इन लोगो का शास्त्र मे उल्लेख करने से क्या लाभ?

आनन्द आदि उच्च श्रावको की दिनचर्या ओर उच्च नियमो के अनुकूल अपनी दिनचर्या न बिताने के ही कारण, लोगो की दिनचर्या ओर बर्ताव स्फूर्तिप्रद होने की जगह आलस्यमय हो गए हें। यही कारण हे कि

यूरोप के मनुष्यो की आयु का औसत प्रतिशत 70 से 75 है और भारतीयो का 20 से 25 वर्ष तक का ही।

विचार कीजिए, इतना बडा अन्तर क्यो? यूरोपियन वृद्ध होकर क्यो मरता है? और भारतीय तरुण होने के पूर्व ही क्यो मर जाता है? जिस आयु मे यूरोप निवासी उत्साही कार्यो मे लगने की उत्कठा प्रदर्शित करते है, उस आयु मे भारतीय मृत्यु की घडियाँ क्यो गिनने लगते है? एक कारण है – उनका रहन–सहन, विधि–व्यवहार प्राय नियमित और यहा वालो का प्राय अनियमित। भला अनियमित जीवन भी कोई जीवन है?

मैने ऊपर आपको अधाधुध अनुकरण न करने का कुछ दिग्दर्शन कराया। अब जरा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न होने से अल्पपाप को महापाप समझकर विरोध करते है, इस पर भी कुछ कह देना चाहता हूँ। दूर कहाँ जाऊँ, आप खादी को ही लीजिए। लोग कहते है कि चर्खा गरन–गरन फिरता है, इससे वायुकाय का आरम्भ होता है और उससे कते हुये सूत से कपडा बुना जाता है, इसमे भी आरम्भ होता है। यह बात यथार्थ है, पर विलायती (मैन्चेस्टर आदि का) कपडा तो छहो काया की महान् हिसा के द्वारा तैयार होता है, यह आपको मालूम है?

वीतराग का मार्ग, जैसा कुछ ऊटपटॉग बुद्धि वाले भाई समझते हैं, उससे निराला है। आज लोग आटे का माड लगा कर कपडा तैयार करके देने वाले रेगरो और बलाइयो को अछूत एव घृणित कर्म करने वाले कहते है और उनसे दूर रहते है, पर मिल के कपडो मे अक्सर चर्बी लगाई जाती है और वे महान् हिसा से तैयार किये जाते हैं। उन कपडो के तैयार करने वालो को आप बडे आदर की दृष्टि से देखते और धनीमानी कहकर उनका गौरव बढाते हैं। वे मिल के मालिक हैं न। चर्खे से सूत पैदा कर कपडे बनवाने मे लोग पाप समझते है, किन्तु बुद्धिमान् और वीतराग के मार्ग को समझने वाला स्पष्ट जानता है कि हाथ के बने कपडो मे अल्पारम्भ है और मिल के बने कपडो मे महारम्भ है।

आज के बुद्धिमानो ने शोध के साथ यह सिद्ध करके बतलाया है कि चर्खा सिर्फ पेट भरने का साधन ही नही, पर कितनी ही निकम्मी आदते छुडा देने वाला है और उसका यथार्थ मर्म जानने वाले को एकाग्रता प्राप्त करने का भी साधन है। चर्खा विधवाओ के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखो की भूख मिटाने वाला है। ऐसा आज के विद्वान् कहते है। देश की दरिद्रता मिटाने के लिये आज की बडी–बडी धन वाली नूतन बहने भी इसे कातती हैं। चर्खा

आजकल का आविष्कार नही, बहुत पहले का है। इसका जिक्र जैन सिद्धान्तो की कथा मे भी आया है। इस पर योग्य विचार कर्तव्याकर्तव्य का जानकार ही कर सकता है।

आज कर्तव्य के विषय मे बडी उलटी समझ हो रही है। तभी तो लोग खेती को महापाप और दूसरे अनार्य वाणिज्य को श्रेष्ठ समझते हैं। यह भी सुनने मे आया है कि लोग बाजार से घी लाने मे अल्पारम्भ और घर पर गाय द्वारा घी पैदा करने मे महारम्भ मान बैठे है, पर खेती को जैन–शास्त्र मे वैश्य–कर्म बतलाया गया है।

उत्तराध्ययन के तीसरे अध्याय मे ऐसा कथन है कि चार अग आराधने वाला पुरुष स्वर्ग–सुख का उपभोग कर उस घर मे जन्म लेता है, जहा दस बोल की योगवाई–सुलभता होती है। पहला बोल, 'खेत्त वत्थु ' अर्थात् सेतु व केतु, ये दो प्रकार के धान्यादि निष्पत्ति के योग्य क्षेत्र हो, यानी जिसमे जल के सींचने से पैदा हो, उसे सेतु कहते हैं और जिसमे वृष्टि के जल से धान्यादि निष्पन्न हो, उसे केतु कहते है। वह पुण्यवान् पुरुष ऐसे ही गृहस्थ के घर जन्म लेता है। इस कथन से स्पष्ट है कि खेती निषिद्ध धन्धा नही, पर पुण्य वाले गृहस्थ की सम्पत्ति मानी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के 25वे अध्ययन मे, जहा वैश्य–कर्म का वर्णन है– 'वइसो कम्मुणा होई'– इस पाठ की टीका मे "कृषि पशुपालनादिना भवति" लिखा हे। अर्थात् खेती करने व पशुओ की पालना करने से वैश्य कहलाता है। इसमे भी वैश्य का प्रधान कर्म कृषि करना लिखा है। भगवान् ऋषभदेवजी ने कर्म के तीन भेद बतलाये है – असि, मसि और कृषि। अर्थात् खेती करना भी प्रधान आजीविका के कर्म मे है। इन कथनो से मालूम होता है कि जैन–शास्त्र खेती को अनार्य कर्म या अस्वाभाविक कर्म नही कहते, किन्तु इसमे आरम्भ अवश्यमेव मानते हे।

अब रही बाजार के घी की बात। जरा इस पर विचार कीजिये। क्या बाजार का घी आकाश से टपक पडा? 'नही।'

किसी न किसी ने तो गोओ की रक्षा की होगी, तभी घी मिला।

दूसरी बात, आजकल के घी मे बहुत सम्मिश्रण होना सुना जाता हे। कहा जाता है कि 'वेजीटेबिल' घी जिसे कहते हैं, उसमे वास्तविक घी का बिल्कुल अश नही है। वह न मालूम किन अप्राकृतिक ढगो से वनाया जाता हे। वह भारत मे वनने लग गया हे। सुना हे, इसमे चर्वी का भी मिश्रण होता हे।

विदेशी घी एक रुपये का जितना मिलता हे, उतने देशी घी के लिये लगभग दो रुपये लगते हे। जिस देश वाले, इस भारत से हजारो मन मक्खन

ले जावे, वे भारतीयो को सस्ता घी दे, यह कैसे सम्भव है? इस घी मे यदि सत्व हो, यह घी भारतीय घी से अच्छा हो, तो वे यहा से महँगा घी ले जाकर वहाँ से सस्ता क्यो भेजे?

आप अहिसावादी होने का दावा करते है, तो अहिसा का सच्चा अर्थ समझिये। अहिसक कहलाने वाले कई भाई अहिसा का वास्तविक अर्थ न जानने से, कई बार ऐसे काम कर बैठते है कि अन्य धर्मावलम्बी बन्धु उनके कार्यो को देखकर हँसी उडाते है। वे जैन धर्म को लजाते है।

हिसा–अहिसा का रूप न समझ सकने के कारण ही कई श्रावक चीटी मर जाने पर जितना अफसोस जाहिर करते है, उतना ही मनुष्य पर अत्याचार या मिथ्या बर्ताव करने मे पश्चात्ताप नही करते।

यह बात हृदय मे अकित कर लीजिये कि अत्याचार करना जैसे मानसिक दौर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय मे जलते हुये, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य है। परन्तु वास्तविक शान्ति धारण कर लेना– यह मानसिक उच्चता और उन्नत धर्म है। जैसे कोई दुराचारी पुरुष किसी धर्मशीला स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस शरण आई हुई बहन को कायर बन कर शरण नही देता और भागता है, तो ये दोनो मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले है। एक क्रूरपन से और दूसरा कायरपन से। आज यह बात दिखाई पडती है कि बहुत–से जैनी भाई कायरता को ही अहिसा मान बैठे है। इसकी वजह से, कर्तव्य से पराड्मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक–से दिखाई देते है। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का फल है। वास्तविक अहिसा कायरो का धर्म नही, किन्तु सच्चे वीरो–धीरो का है।

'सुधा' नामक पत्रिका मे अहिसा पर एक आलोचनात्मक लेख पढा था। उसमे लेखक ने गीता के–

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।

इस श्लोक मे जो 'अनार्य' शब्द आया है उसका अर्थ 'जैन' या 'बोद्ध' किया है। शायद उसने जैनो की सच्ची दया को न समझकर, आज के जैनो की अकर्मण्यता ओर दोर्बल्य देखकर, यह आक्षेप कर दिया है, पर यदि लेखक जेन लोगो की अहिसा को लिखने के पहले, शास्त्रो का अवलोकन कर विचारपूर्वक लिखता, तो मेरा अनुमान हे कि ऐसा लिखने का कभी साहस न करता।

जैनो की अहिसा, अनार्यो की नही, वीर आर्यो की है। सच्चा जेन काम पडने पर रण – सग्राम मे जाने से भी नही हिचकता। हॉ, वह इस बात का जरूर खयाल रखता है कि में अन्याय का भागी न बन जाऊँ, मुझ से व्यर्थ की हिसा न हो जाय।

अहिसा कायर वनाती हे, या कायरो की है, यह बात अहिसा के वास्तविक गुण को न समझने वाले ही कह सकते हैं। अहिंसा–व्रत वीर–शिरोमणि ही धारण कर सकता है। कायर अहिसाधारी नहीं कहला सकते। वे, अपनी कायरता छिपाने के लिये भले ही अहिसा का ढोग रच ले, पर उन्हे अहिसक कहना योग्य नही कहा जा सकता। वैसे तो सच्चा अहिसावादी व्यर्थ मे एक चीटी के प्राण हरण करने मे भी थर्रा जायगा, क्योकि यह सकल्पजा हिसा है, इस कृत्य को वह व्रत–भग का कारण समझता है, पर जब न्याय से रण – सग्राम मे जाने का मोका आ पडे तो वह सग्राम करता हुआ भी अपने व्रत को अखण्डित रख सकता है।

जो सकल्जा हिसा करता हे उसे पापी, अधर्मी के नाम से पुकारते हैं, पर जो आरम्भ–जनित हिसा करता हे उसे आरम्भी कहते हें, परन्तु अकृत्य करने वाला नही ओर न ही पापी या अधर्मी कहते।

भाइयो! अब आप लोग समझ गये होगे कि जैन धर्म की अहिसा इतनी सकुचित नही है कि ससार–कार्य मे बाधक हो, पर इतनी विस्तृत है, कि बडे–बडे राजा–महाराजा भी धारण कर सकते हे। और उनके व्यवहार मे किसी प्रकार की रुकावट नही आ सकती। जेन अहिसा यदि सकुचित होती और ससार–कार्य मे बाधक होती, तो पूर्व के राजा–महाराजा इस धर्म को केसे धारण करते?

मै पहले कह चुका हूँ कि श्रावक सकल्पजा हिसा का त्यागी होता है और आरम्भजा का आगार रखता हे। वह सकल्पजा हिसा को न छोड कर, आरम्भजा हिसा को ही प्रथम छोडने का प्रयत्न करे, ऐसा कभी नही हो सकता। जैसे धोती को छोडकर कोई मनुष्य पगडी को रखता हे तो वह नादान गिना जाता हे, वेसे ही जो आरम्भजा को छोडकर सकल्पजा हिसा करता हे, वह भी ऐसा ही नादान हे।

आप लोगो को अहिसा का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय, इसलिये अव एक मोटी वात ओर कह देता हूँ।

अहिसा एक सात्त्विक धर्म हे। इसके पालने वाले को तीन श्रेणियो मे माना गया हे। सात्त्विक वृत्ति वाले, राजस वृत्ति वाले ओर तामस वृत्ति

वाले। अहिसा का पूर्ण रूप से पालन वीतराग पुरुष ही कर सकते है। इसके अलावा, जो सात्त्विक वृत्तिवाले मुनिगण है, वे भी सम्पूर्ण हिसा के त्यागी है। जो राजस वृत्ति वाले अहिसा धर्म के पालक है, वे जानबूझ कर तो हिसा नही करते है, किन्तु अन्याय का पतिकार करने के लिये सेना–सन्धान करना भी अनुचित नही मानते। ये मध्यम कोटि के अहिसा धर्म के पालक है। इनमे श्रावक, समदृष्टि, न्यायपिय और वीर पुरुषो का समावेश है। तीसरे तामसी वृत्तिवाले भी अहिसा धर्म के पालन का दावा करते है, परन्तु ऐसे प्राणियो द्वारा वास्तविक अहिसा नही पाली जा सकती। वे केवल 'अहिसापालक' नामधारी है, अहिसा का सच्चा स्वरूप समझते ही नही। वे लोग अपनी मॉ–बहन की देइज्जती होते देखकर हृदय मे तो बहुत क्रोध लाते है, किन्तु 'कही मर न जाऊँ', इस भय से चुप्पी साधे रहते है। जब कोई उनके इस मौन का कारण पूछता है, तो कह देते है कि मै अहिसा–धर्म का पालक हूँ। इसलिये अपने धर्म के पालने के लिए मैंने उसे दण्ड नही दिया और दयापूर्वक छोड दिया। इस तरह मन मे भयभ्रान्त होकर, ऊपर से अहिसा की बाते बनाने वाले तामसी लोग अहिसा का ढोग मात्र रचते हैं।

ऐसी वृत्ति रखकर अहिसा का ढोग करने वाला मनुष्य कायर किवा नपुसक के समान है। वह ससार के लिये बोझ है। ऐसी वृत्तिवाला ढोगी मनुष्य अपने आत्मा का अपमान करनेवाला होने से आत्मघातक आदि पापियो के समान हिसक ही है, वास्तविक अहिसक नही।

8 अहिसा–आचरण की शक्यता

बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को समझने के लिये हिसा–अहिसा को समझना चाहिये। अहिसा के बिना ससार के समस्त प्राणियो का क्षण मात्र भी काम नही चल सकता। कहना चाहिये कि जगत् का अस्तित्व अहिसा के आधार पर ही टिका हुआ है।

कहा जा सकता है कि हिसा के बिना भी कैसे काम चल सकता है? तो मैं पूछता हूँ कि तू हिसा अपनी चाहता है या दूसरो की? अपनी नही चाहता हे, दूसरो की चाहता है। अगर तू दूसरो कि हिसा चाहता है तो समझ ले कि तेरे लिये भी हिसा तैयार है। यह तो गति की प्रत्यागति और आघात का प्रत्याघात है। अतएव अगर तू अपनी अहिसा चाहता है तो दूसरो की हिसा की भी चाह मत कर।

तू दूसरो की हिसा चाहता है, तो जैसे तेरे लिये दूसरे, दूसरे हैं, उसी प्रकार दूसरो के लिये तू भी दूसरा है। क्या वे तेरी हिसा नही चाहेगे? तू दूसरे की हिसा करने मे सकोच नही करेगा तो दूसरे तेरी हिसा करने मे क्यो सकोच करेगे? इस प्रकार ससार मे मारामारी मच जायगी। घोर अशान्ति और त्रास का दौर शुरू हो जायगा। अतएव यदि तू अपनी आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहता है तो तुझे अहिसा की शरण मे जाना चाहिये। दूसरे की हिसा को अपनी हिसा समझना चाहिए और दूसरे की दया को अपनी ही दया समझना चाहिए। दया का बदला दया और हिसा का बदला हिसा है।

कोई आदमी जगल मे जाकर कहे– 'तेरा बाप चोर!' तो उसकी प्रतिध्वनि उसके कानो मे आकर टकरायेगी– 'तेरा बाप चोर!' अगर कोई कहे– 'तेरा बाप धर्मात्मा' तो वही आवाज वापिस आएगी कि–'तेरा बाप धर्मात्मा !'

इस प्रकार प्रकृति जगत् के जीवो को बोध दे रही है कि हिसा का बदला हिसा और दया का बदला दया है।

कहा जा सकता है कि आत्मकल्याण और जगत्कल्याण की दृष्टि से अहिसा अच्छी चीज है, परन्तु जीवनयात्रा इतनी विकट है कि दूसरो को तकलीफ पहुँचाये बिना निभ नही सकता। अहिसा का पूर्ण रूप से पालन किया जाय तो पल–भर भी जीना कठिन हो जाय। फिर तो प्राण ही देने पडे। मगर प्राण देकर भी हिसा से बचना सभव नही है, क्योकि प्राण देना भी तो हिसा है। इसे आप आत्महत्या कहते हे। फिर अहिसा को अमल मे कैसे लाया जाय? इसका कोई उपाय भी है?

इसका उत्तर मे इस प्रकार देता हूँ कि सर्वप्रथम यह निश्चय करो कि हिसा ओर अहिसा मे से कर्तव्य क्या हे? ओर अकर्तव्य क्या हे? अगर आपको निश्चय हो गया हे कि अहिसा कर्तव्य हे तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस प्रकार अहिसा का पालन किया जाय? वह एकदम से पूर्ण होती नही है तो पूर्ण रूप से ही पालने के लिये कोई जोर नही देता।

कल्पना कीजिए, एक आदमी को कोई बडा रोग हो गया हे। वह एकदम नही जाता, परन्तु धीरे–धीरे मिटाया जा सकता हे। तो क्या उसे धीरे–धीरे नही मिटाना चाहिए? अवश्य उसे धीरे–धीरे दूर करना चाहिए ओर ऐसा ही किया भी जाता है।

इसी प्रकार हिसा आत्मा का वडा रोग हे। वह दूर करने योग्य हे। मगर वह यकायक – सहसा दूर नही होती। वह शरीर के साथ ही जन्मी हुई

है। देहधारियो से किसी–न–किसी प्रकार हिसा हो ही जाती है। फिर भी उसे मिटाना है, भले ही वह धीरे–धीरे मिटे।

हिसा के रोग से मुक्त होने के लिए भगवान् ने दो मार्ग बतलाये है। एक अनगारधर्म और दूसरा अगारधर्म, जिन्हे क्रमश साधुधर्म और श्रावकधर्म भी कहते है। इन दोनो उपायो से अहिसा अमल मे लाई जा सकती है।

अनगारधर्म के भी अनेक भेद हैं, परन्तु यहाँ उनका कथन नही किया जायगा। आपके सामने गृहस्थधर्म रखा जा रहा है।

9 हिसा की त्यागविधि

सब व्रतो मे पहला व्रत प्राणातिपात का त्याग करना है। प्राणातिपात का अर्थ हिसा है। श्रावक स्थूल हिसा का त्याग करता है। कहा भी है –

थूलग पाणइवाय समणोवासओ पच्चक्खाइ– से पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते, तजहा–सकप्पओ य, आरम्भओ य। तत्थ समणोवासओ सकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरभओ।

थूलग पाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तजहा–बधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए त्ति।

(1) श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है।
(2) स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार का है–सकल्प से और आरभ से।
(3) इनमे से श्रमणोपासक सकल्प से, जिन्दगी भर के लिए हिसा त्यागता है।
(4) आरभ से नही।
(5) स्थूल प्राणातिपात–विरमण व्रत के श्रमणेपासक को पॉच अतिचार जानने योग्य है, आचरण करने योग्य नही है। वे इस प्रकार – बध, वध, छविच्छेद, अतिभार और भक्तपानविच्छेद।

शका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिसा का त्याग करता है, तब भी सूक्ष्म हिसा तो शेष रह ही जाती है। उसे भी क्यो नही त्याग देता?

इसका समाधान यह है कि सूक्ष्म हिसा का त्याग अवश्य शेष रह गया है, परन्तु यह उसकी कमजोरी है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय ओर वनस्पतिकाय की सूक्ष्म हिसा से श्रमणोपासक निवृत्त नही हुआ है, इसको वह अपनी असमर्थता मानता है। वह इस हिसा को भी हिसा

समझता है। अगर इस हिसा को वह हिसा न माने तो सम्यग्दृष्टि नहीं रह जाय, मिथ्यात्वी हो जाय। सम्पूर्ण जीवो की दया तो महाव्रत मे पाली जा सकती है। जिसमे इतनी शक्ति नही आई हे, साधु बनने की जिसकी तैयारी नही है, वह क्या करे? क्या उसे अहिसा के मार्ग पर दो-चार कदम भी नही बढना चाहिए? इसलिये चारित्र के महाव्रत ओर अणुव्रत रूप दो भेद किये गये है। जो महाव्रतो का पालन नही कर सकते, उनके लिए अणुव्रत हैं। जिसकी जैसी रुचि और शक्ति हो, उसे उतना ही चारित्र पालना चाहिए। यह नही कि पूर्ण चारित्र नही पल सकता तो देश-चारित्र भी न पाला जाय।

आपने एक दर्जी को बुलाया ओर उसके सामने कपडे का थान रख दिया। वह आपसे पूछता है- मैं इसका क्या बनाऊॅ? कोट बना दू या लम्बी अगरखी? आप उसे कोट बनाने को कहेगे तो वह कोट बनाएगा। यदि वह ऐसा न करके अगरखी बना दे तो ऐसा करना उसका अकाम कहलाएगा।

इसी प्रकार जो पुरुष किसी सन्त-महात्मा के पास आकर कहता है, कि मुझे गृहस्थ-धर्म या श्रावक-धर्म धारण करा दीजिए, तो सत का कर्तव्य है कि वे उसे उसकी रुचि एव शक्ति के अनुसार ही धर्म धारण करावे ओर समझे कि अभी इसकी योग्यता इतनी ही है। जबरदस्ती करके, उसकी शक्ति से बाहर व्रत धारण कराना उचित नही। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् ने हिसा के स्थूल और सूक्ष्म भेद किये है।

10 हिसा के भेद

जब श्रमणोपासक स्थूल हिसा का त्याग करता हे तो यह भी समझ लेना चाहिए कि स्थूल हिसा किसे कहा गया है?

यहॉ स्थूलता दो अपेक्षाओ से वतलाई गई हे – एक शास्त्रीय दृष्टि से और दूसरी लौकिक दृष्टि से। जिसको सर्वसाधारण लोग भी जीव कहते हे, जिसकी हिसा लोक मे भी हिसा कहलाती हे, यानी सकल आवाल गोपाल प्रसिद्ध द्वीन्द्रियादिक हिलते-चलते जो जीव हे, उनकी हिसा यहॉ स्थूल हिसा कही गई हे। ओर उनकी अपेक्षा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव हे। शास्त्र की दृष्टि से वे जीव माने गये हैं, परन्तु लोक मे वे प्राय जीव रूप से प्रसिद्ध नही हे। क्योकि मिट्टी खोदने वाले तथा लकडी काटने वाले पुरुप को कोई यह नही कहता कि यह हत्यारा हे, इसने जीव को मारा हे! अत इस हिसा को सूक्ष्म हिसा कहा हे।

परन्तु आजकल कई पुरुषो ने शास्त्रीय दृष्टिकोण पर बराबर ध्यान न रखते हुए सूक्ष्म पर ज्यादा जोर दे दिया है और स्थूल हिसा–अहिसा की उपेक्षा कर दी है। इसी कारण आज लोगो मे यह भ्रम हो गया है कि सभी जीवो की हिसा बराबर है। एकेन्दिय और पचेन्दिय जीव की हिसा को बराबर – एक ही कोटि का समझना अज्ञान है। ज्ञानियो ने तो स्पष्ट रूप से अलग–अलग भेद करके बतला दिये है। फिर जिसकी जैसी शक्ति हो, उसे उसी के अनुरूप अहिसा का पालन करना चाहिये।

श्रणोपासक उपर्युक्त स्थूल हिसा से निवृत्त हो सकता है, सूक्ष्म से नही। हॉ, वह सूक्ष्म हिसा को भी हिसा ही समझता है और उसके त्याग का अभिलाषी भी रहता है, परन्तु ससार–व्यवहार मे फॅसा होने के कारण त्यागने मे समर्थ नही हो पाता।

11 स्थूल प्राणातिपात

स्थूल जीवो के प्राणो का अतिपात करना स्थूल प्राणातिपात कहलाता है। यहॉ प्राण शब्द से आयु, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रिय तथा योग का ग्रहण होता है। इन प्राणो से वियुक्त करना प्राणातिपात है। इसी को प्राणी की हिंसा कहते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि प्राणो के अतिपात को प्राणी की हिसा क्यो कहा गया? इसे तो प्राणहिसा ही कहना चाहिए। प्राणी तो अमर है। उसकी हिसा नही हो सकती।

इसका उत्तर यह है कि प्राण, प्राणी का ही होता है। प्राणी के बिना प्राण नही रहता। और प्राणी अमर है, इसीलिये तो उसकी हिसा होती है। प्राणी अमर न होता तो हिसा का बदला भी कौन भोगता?

मान लीजिए, एक आदमी के पास अगूठी है। किसी ने उसे चुरा लिया तो बतलाइये कि वह चोरी किसकी कहलाएगी? अगूठी की अथवा अगूठी वाले की? यही कहा जाता है कि अगूठी वाले की चोरी हुई है। अगूठी जड है। वह चाहे असली स्वामी के पास रहे या चोर के पास, उसे कोई सुख–दुख नही होता। दु ख होता है उसके असली स्वामी को, अत यही माना जाता है कि अगूठी वाले की चोरी हुई है। इसी प्रकार कलदार के विषय मे समझिये। कलदार चुरा लिये जाते हैं तो कलदार वाला ही यह कहता है कि मेरी चोरी हो गई है। इसका कारण भी यही है कि उन कलदारो की चोरी से उसको दु ख का अनुभव होता है।

यही बात प्राणो की हिसा के विषय मे है। प्राण उस प्राणी के हैं और उनका अतिपात करने से प्राणी को ही कष्ट होता है, अत वह अतिपात प्राणी की हिसा कहलाता है।

यहाँ स्थूल का अर्थ विशालकाय हाथी, ऊट आदि प्राणी ही नही, वरन् समस्त द्वीन्द्रिय आदि प्राणी हैं। चाहे कोई छोटे शरीर वाला ही क्यो न हो, फिर भी अगर वह चलता–फिरता है, धूप और छाया से बचने के लिए इधर–उधर जाता है, स्वय भ्रमण करता है और अपने दु ख को हरकतो से प्रकट करता है तथा कम से कम दो इन्द्रिय वाला है, तो वह स्थूल प्राणी कहलाता है। श्रमणोपासक ऐसे स्थूल जीवो की हिसा का त्याग कर देता है।

12. सूक्ष्म प्राणातिपात

कहा जा सकता है कि सूक्ष्मबुद्धिगम्य सूक्ष्म जीवो को, अर्थात् पृथवीकाय, जलकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवो को न माना जाय और जो सहज ही समझ मे आते हैं, ऐसे स्थूल जीवो को, अर्थात् द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो को ही मान लिया जाय तो क्या बाधा है?

इस सबध मे पहली बात तो यही है कि जीवो का अस्तित्व हमारे मानने से हो और न मानने से न हो, ऐसा नही कहा जा सकता। जो जीव है वह तो जीव ही रहेगा, चाहे कोई उसे जीव माने अथवा न माने। जीव को जीव न मानने वाला, उसकी हिसा करके जीवहिसा के पाप का भागी होने से नही बच सकता। यही नही, बल्कि उसकी श्रद्धा विपरीत होने के कारण उसे मिथ्यात्व का भी पाप लगेगा। जब स्थावर जीव भी जीव हैं तो उन्हे न मानना योग्य कैसे हो सकता हे?

दूसरी बात यह है कि जो स्थूल को मानता है, किन्तु सूक्ष्म को नही मानता, उसका स्थूल को मानना भी नही टिक सकता। उसकी स्थूल की मान्यता भी नष्ट हो जायगी। कारण यह हे कि स्थूलता ओर सूक्ष्मता परस्पर सापेक्ष हैं। स्थूलता की विद्यमानता मे ही सूक्ष्मता है ओर सूक्ष्मता की विद्यमानता मे ही स्थूलता है। एक न हो तो दूसरी भी नही हो सकती।

तीसरी बात यह है कि सारा ससार छोटी स्थिति पर टिका हुआ हे। सूक्ष्म जीवो को माने बिना ससार की स्थिति कायम नही रह सकती। स्थूल जीव तो गिनती के हें। मान लीजिए कि वे धीरे–धीरे मोक्ष मे चले जाएँ तो एक दिन ऐसा आ जायगा कि ससार जीवशून्य हो जायगा। अतएव सूक्ष्म

जीवो का अस्तित्व माने बिना जगत् की अनादि—अनन्त स्थिति ही नही बन सकती। सूक्ष्म जीव अपना विकास करके स्थूल जीव बन जाते है। इन सूक्ष्म जीवो की गिनती नही है। वे अनन्त है। जब ऐसा मान लिया जाता है तो सब तत्त्व ठीक स्थिति पर रहते हैं। ससार के कभी जीवरहित होने की भी सभावना नही रहती है।

इन सूक्ष्म जीवो की हिसा को सूक्ष्मप्राणातिपात कहते है।

13. संकल्पजा और आरभजा हिसा

कहा जा सकता है कि स्थूल हिसा का त्याग तो ससार छोड देने पर ही किया जा सकता है। गृहस्थो को तो अनेक ऐसे काम करने पडते है, जिनमे त्रस जीवो का विघात होता है। दुकानदारी करना, हल चलाना, मकान बनवाना और भोजन बनाना आदि अनिवार्य कार्यो मे त्रस की हिसा से बचा नही जा सकता। कीडे—मकोडे वगैरह मर ही जाते हैं। आपके सामने हिसा का त्याग करे और फिर उसका पालन न करे, यह तो दोहरे पाप मे पडना है। ऐसी स्थिति मे आप ही बतलाइए कि हम अहिसा को किस प्रकार अमल मे ला सकते है?

यह कहना ठीक है, मगर आराधक की योग्यता देखकर ही धर्म की प्ररूपणा की जाती है। हम जानते है कि सभी लोग साधु नही बन सकते। अतएव किसी को भी अहिसा का पालन करने मे अडचन न हो, इस दृष्टि से शास्त्रो मे स्थूल हिसा भी दो प्रकार की बतलाई है — सकल्पजा और आरभजा।

मारने की बुद्धि से, समझ—बूझ कर, मास, हड्डी, चमडी, नख, केश या दात आदि के लिये प्राणी की हिसा करना सकल्पजा हिसा है।

मकान बनवाने, पृथ्वी खोदने, हल जोतने आदि आरम्भ के कामो मे जो त्रस—हिसा हो जाती है, वह आरभजा हिसा कहलाती है।

आरभजा हिसा मे हिसा करने का सकल्प नही होता, अर्थात् जीव का घात करने की भावनी नही होती, जब कि सकल्पजा हिसा जीव का वध करने के विचार से ही की जाती है।

मान लीजिए, एक आदमी निशाना साधने के लिये गोली चलाता है और सयोगवश कोई आदमी उस गोली से मारा जाता है। तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है, और वह दड का पात्र भी समझा जाता है, परन्तु वैसा अपराधी और दड—पात्र नही, जैसा कि मारने के इरादे से गोली मारने वाला

है। इस प्रकार यथासम्भव सावधानी रखते हुए भी, ओर किसी भी प्राणी को मारने की नीयत न रखते हुए भी, कार्य करते समय प्राणियो का मर जाना आरभजा हिसा कहलाता है।

इन दोनो प्रकार की हिसाओ मे से श्रमणोपासक सकल्पजा हिसा का त्याग करता हे। वह आरभजा हिसा का पूर्ण रूप से त्याग नही कर पाता है।

14. युद्ध की हिंसा

प्रश्न किया जा सकता है कि सग्राम मे तलवार, धनुष, बदूक आदि शस्त्र–अस्त्र लेकर शत्रुओ का सामना करना पडता हे और उन्हे मारना भी पडता है। अगर यह सकल्पजा हिसा है तो कोई राजा, सेनापति या सैनिक व्रतधारी श्रावक हो ही नही सकता। इसका उत्तर यह है कि जिनके ऊपर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, उन्हे अन्याय–अत्याचार का दमन भी करना पडता है। अन्याय और भ्रष्टाचार का दमन करने के लिए अन्यायी ओर अत्याचारी का भी दमन करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा न करने से ससार मे अशान्ति फैलती है। अतएव अहिसा–व्रतधारी श्रावक भी ऐसे अवसर पर अपने उत्तरदायित्व से किनारा नही काटता। फिर भी उसका उद्देश्य शत्रु का सहार करना नही है, अन्याय–अत्याचार का ही सहार करना है। फिर भी जो हिसा होती है, वह सापराधी की हिसा है। उसे विरोधी हिसा भी कहते हैं। श्रावक सापराधी को छोड निरपराधी की ही हिसा का त्याग करता है।

अलबत्ता, ऐसे प्रसग पर इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि मारा जाने वाला प्राणी सापराध हे या निरपराध? वहुत बार अपराधी के वदले निरपराध को दण्ड दे दिया जाता हे। श्रमणोपासक इस विषय मे वहुत सावधानी बरतेगा।

आजकल की युद्धनीति के पीछे कोई स्पष्ट दृष्टि नही हे। आज निरपराध और साधारण का कोई निर्णय नही किया जाता। अपराध तो करता हे एक आदमी या थोडे आदमी, मगर बम बरसा दिये जाते हैं समस्त नागरिको पर। इस बात का कोई विचार नही किया जाता कि आखिर उन वूढो, वच्चो ओर महिलाओ का क्या अपराध हे, जिन पर बमवर्षा की जा रही हे ओर जिनके प्राण लूटे जा रहे हैं? अपराधी को दण्ड देना दूसरी वात हे, किन्तु उसका वहाना करके निरपराध प्रजा पर अत्याचार करना महान् अन्याय हे।

15 हिंसक प्राणियो की हिंसा

इस विषय मे एक प्रश्न और उठाया जा सकता है। कहा जा सकता है कि सिह आदि प्राणी हिसक है, उन्हे क्यो न मार डाला जाय? इसका उत्तर यह है कि जो सिह आपके ऊपर आक्रमण कर रहा है, उसकी बात तो अलग है, क्योकि आप निरपराध की हिसा के त्यागी है। सापराध की हिसा आपने नही त्यागी है, परन्तु समग्र सिह जाति को मार डालने का निर्णय कर लेना अन्याय है, अत्याचार है। विचार करो कि मनुष्य, मनुष्य की हिसा ज्यादा करता है या सिह? मनुष्य को अधिक भय किससे है– मनुष्य से या सिह से? निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मनुष्य सिह की अपेक्षा मनुष्य की ही अधिक हिसा करता है और मनुष्य को मनुष्य से ही अधिक भय है। तो क्या समग्र मनुष्य–जाति को मार डालने का निर्णय किया जा सकता है? नही, तो सिह जाति के लिए ऐसा निर्णय क्यो किया जाय?

इसके अतिरिक्त इस विशाल भूतल को मनुष्य–जाति ने अपने लिये खरीद नही लिया है और न इसका ठेका ही ले रखा है। इस पर जैसे मनुष्य को रहने का अधिकार है, उसी प्रकार पशुओ को भी है। फिर हिसक होने के कारण अगर सिहजाति का सहार करना उचित हो तो सिहजाति की हिसा करने वाली मनुष्य–जाति का सहार भी क्यो उचित नही माना जाएगा?

कहा जाय कि मनुष्य, सिह की अपेक्षा अधिक साधनसपन्न है, अतएव वही सिहो को मारने का अधिकारी है, तो यह तो 'जिस की लाठी उसकी भैंस' नामक कहावत ही चरितार्थ हुई। निर्बल को मारने या सताने की परम्परा पशुओ से प्रारम्भ होगी तो वह रुकने वाली नही है। फिर तो सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को भी मार डालने पर उतारू हो जायगा और उसका ऐसा करना बुरा न समझा जायगा। इस प्रकार न्याययुक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर सिह जैसे हिसक प्राणियो की जाति का सहार करना भी उचित नही है।

सिह एकान्त रूप से हिसक ही होता है, यह समझना भी भूल है। कई–एक सिह तो ऐसे उपकारी, दयालु और कृतज्ञ होते हैं कि जैसे मनुष्य भी नही होते। एड्रूज कील नामक एक व्यक्ति का उदाहरण इतिहास मे मिलता है। वह किसी का गुलाम था। उस समय रोम मे गुलामो के साथ बहुत सख्ती की जाती थी। उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती थी। एड्रूज कील का मालिक भी उसे खूब सताता था। एक बार तग होकर वह वहा से भाग

निकला और जगल मे चला गया। जगल मे पहुँचने पर उसे खयाल आया कि अगर मैं पकडा गया तो मेरी और अधिक दुर्दशा होगी, क्योकि भाग कर चला जाने वाला गुलाम बहुत गुनहगार समझा जाता था। उसे फौज भेज कर कहीं से मगवाया जा सकता था। अतएव उसने अपने प्राण दे देने का विचार स्थिर कर लिया।

कील एक सिह की गुफा मे घुस गया। थोडी देर मे बाहर से सिह आया। सिह के पैर मे काटा चुभा हुआ था। गुलाम सोच रहा था कि अपने मालिक के हाथो मारे जाने की अपेक्षा सिह के द्वारा मर जाना कही अच्छा है।

परन्तु जहाँ अहिसा आ जाती है, वहाँ किसी प्रकार का बैर नही रहता। कहा भी है –

अहिसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ बैर त्याग।

अर्थात् जहाँ अहिसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर नही रहता। अहिसक के आस–पास रहने वाले हिसक प्राणी भी निर्वैर हो जाते हैं।

सिह उस गुलाम के पास आया और उसने पजा उठा कर उसके सामने किया। मानो सिह कहता था कि मेरा कॉटा निकाल दे। गुलाम ने सोचा, मरते–मरते इसका कुछ उपकार हो जाय तो अच्छा है। उसने सिह का कॉटा निकाल दिया। कॉटा निकालते ही सिह उसका पैर चाटने लगा।

कील के मालिक को जब उसके भाग जाने का पता चला तो उसने फरियाद की। फौज दौडाई गई और आखिर कील पकडा गया।

सयोगवश शिकार मे वह सिह भी पकडा गया ओर पिजरे मे बन्द कर दिया। कील को अपने मालिक के साथ धोखा करने के अपराध मे सिह के सामने डाल देने का दड दिया गया। कील को पता नही था कि यह वही सिह है। वह जब पिजरे की ओर ले जाया जा रहा था, तब सोच रहा था– में जगल मे मरने के उद्देश्य से ही सिह की गुफा मे घुसा था, पर उस समय बच गया। अब यह अच्छा ही हुआ कि में सिह के सामने पिजरे मे डाला जा रहा हूँ। मेरे शरीर से सिह का कुछ उपकार हो जायगा। सिह मुझे लम्बे समय तक के कष्टो से मुक्त कर देगा।

आखिर गुलाम को सिह के पिजरे मे छोड दिया गया। सिह उसे पहचान गया। तीन दिन का भूखा होने पर भी उसने उसे नहीं खाया, प्रत्युत पूर्व की भॉति उसके पैर चाटने लगा। अनेक लोग कुतूहल–प्रेरित होकर वहाँ आये थे। वे यह हाल देखकर चकित रह गये।

गुलाम फिर बादशाह के सामने पेश किया गया। बादशाह ने कहा– सच–सच कहो बात क्या है? मैं तुम्हारी सब बाते सुनूँगा।

गुलाम बोला– गरीबपरवर! मैं अपने मालिक को सिह की अपेक्षा भी अधिक निर्दय समझता हूँ। यह मुझे इतना अधिक त्रास देता था कि मैंने जिन्दा रहने की अपेक्षा मरना अधिक सुखकर समझा। यह कह कर उसने अपनी बीती बात बतलाई।

गुलाम का वृत्तान्त सुनकर बादशाह को भी होश आया। उसी दिन गुलामो को न सताने का कानून बनाया गया और उस गुलाम का अपराध क्षमा कर दिया गया।

कहने का आशय यह है कि समग्र सिह जाति को मार डालना या मार डालने का विचार करना अनुचित है। प्राय सिह उसी हालत मे मनुष्य पर हमला करता है जब उसको सताने या मारने की भावना मनुष्य के हृदय मे हो और वह अपने–आप को सकट मे पडा हुआ समझे। अगर आपका हृदय निर्वैर और निर्भय है तो सिह के सामने से निकल जाने पर भी वह कुछ नही करता।

कई लोग सर्प के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार की बाते कहते हैं। परन्तु कई उदाहरणो से विदित होता है कि सर्प ने भी मनुष्य पर छत्रछाया की। माध्वजी सिन्धे, पेशवा के नौकर थे। तब सर्प ने उनके ऊपर छत्रछाया की थी।

साराश यह है कि कैसा भी प्राणी क्यो न हो, जहॉ तक उसके प्रति बुरे भाव न हो, वह हमला नहीं करता है। अतएव सब प्राणियो पर दया–भावना रखनी चाहिए। अगर इतना न हो तो कम से कम निरपराध जीव की हिसा से तो बचना ही चाहिए।

16. दया के लिए हिंसा

एक भाई ने शका की है कि जो प्राणी बहुत कष्ट मे है, जिसकी बीमारी औषध करने पर भी नही मिट रही है, उसे कष्ट और वेदना से छुडाने के लिए शस्त्र के द्वारा या इजेक्शन आदि के द्वारा मार दिया जाय तो क्या हानि है?

इसका उत्तर यह है कि ऐसा करना ठीक नही। अगर किसी की माता या पिता को असाध्य रोग हो जाय और ऐसी स्थिति आ जाय कि सेवा–शुश्रूषा करने पर भी उन्हे शान्ति प्राप्त न हो, तो क्या उन्हे मार देना कोई पुत्र

पसद करेगा? नहीं। अगर माता–पिता, भाई आदि को इस प्रकार मार देना उचित नही समझा जाता तो बेचारे निर्वाक् मूक प्राणी के लिए ऐसा निर्णय कर लेना कैसे उचित कहा जा सकता है?

वस्तुत ऐसा करना घोर अनर्थकारी है। इस प्रकार की परम्परा चल पडने पर बडे–बडे अनर्थ होगे। लोग इस प्रकार की दया के बहाने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये किसी अप्रिय जन को मार डालने लगेगे।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक दशा मे यह निर्णय करना भी शक्य नही है कि अमुक रोगी बचेगा या नहीं? कभी–कभी ऐसे रोगी भी बच जाते हैं, जिनके बचने की कोई सम्भावना नही होती। कई घटनाएँ तो ऐसी भी सुनी जाती हैं कि रोगी को मरा हुआ समझ कर दाहसस्कार के लिए श्मशान मे ले जाया गया और वहाँ उसके शरीर मे चेतना के चिह्न नजर आने लगे। वे फिर स्वस्थ हो गये और वर्षो जिन्दा रहे। ऐसी स्थिति मे कौन निश्चत रूप से कह सता है कि अमुक रोगी बचेगा या नहीं? आयु की प्रबलता होने पर जीव दु साध्य रोग से भी बच सकता है। अतएव रोग से व्याकुल और दुखी जीव को दयाभाव से प्रेरित होकर भी मार डालना उचित नही है।

17. सहयोग और संघर्ष

सहयोग अहिसा का पक्षपाती है, लेकिन कभी–कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है कि सहयोग की रक्षा के लिए सघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे अवसर पर महत्ता सहयोग की है, सघर्ष की नही। मगर लोग सहयोग को भूल कर सघर्ष को महत्त्व दे देते हैं। इसी कारण ससार मे आज अव्यवस्था फैली हुई है। सघर्षप्रिय लोग शास्त्रो की भी दुहाई देने लगते है और गीता के भी प्रमाण उपस्थित करते हैं। कहते है, गीता मे लिखा है –

तस्माद् युध्यस्व भारत

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लडने के लिए तैयार किया। बोले– अर्जुन, उठो, तैयार हो जाओ और युद्ध करो।

बहुत–से जैन भाई भी चेटक और कोणिक के भीषण सग्राम का दृष्टान्त देते हैं और कहते हैं कि गणराज्य इस सघर्ष के पक्षपाती थे। अगर वे सघर्ष के पक्षपाती न होते तो युद्ध क्यो करते?

इस प्रकार की बातो से बहुत–से भाई चक्कर मे पड जाते हैं। परन्तु ऐसा समझना भूल है। श्रीकृष्ण या चेटक का ध्येय यह था कि सबल के द्वारा निर्बल सताया न जाय। न्याय की रक्षा के लिए चेटक को तलवार उठानी पडी

थी। अर्थात् सघर्ष को नीचा करने के लिए ओर सहयोग को महत्त्व देने के लिए उन्हे युद्ध करना पडा।

जो लोग सघर्ष को उत्तेजित करने के लिए कृष्ण का दृष्टान्त देते हें, उन्हे सोचना चाहिए कि यदि वे सघर्ष के पक्षपाती होते तो दुर्योधन के बिना बुलाये उसके घर क्यो जाते? पाण्डवो को सिर्फ पाच गॉव देने की शर्त पर सधि कराने का प्रयत्न क्यो करते? दुर्योधन के पास जाकर क्यो अपमान करवाते?

इनका अर्थ यही हे कि उन्हे जो भी सघर्ष करना पडा, वह सघर्ष को बढाने के लिए नही, वरन् सहयोग की रक्षा के लिए करना पडा। तो जिस प्रकार सहयोग की रक्षा के लिए कभी–कभी सघर्ष का आश्रय लेना पडता है, उसी प्रकार कभी–कभी श्रावक को सकल्पजा हिसा के त्याग के लिए आरभजा हिसा का आश्रय लेना पडता है। परन्तु ऐसा नही होना चाहिए कि आरभजा हिसा से बचने के लिए सकल्पजा हिसा मे पड जाय। उदाहरण के लिए समझिए कि आपको खुराक खाना आवश्यक है, क्योकि उसके बिना आपकी जीवन–यात्रा नही चल सकती। किन्तु यदि आरभजा हिसा से बचने के लिए अनाज उत्पन्न करने की मात्रा को कम कर दिया जाय तो क्या होगा? या तो मासभक्षण की शरण लेनी होगी या सथारा करना होगा।

अकाल मे सथारा करना आत्महत्या है, क्योकि सत्तरह प्रकार के मरण मे एक 'बलय/मरण' भी गिना गया है, जिसका अर्थ है– अन्नपानी के बिना बिलबिलाते हुए मर जाना। यह अकाम–मरण बतलाया गया है।

तो जब वनस्पति की मात्रा कम कर दी गई तो शेष क्या रहा? मास। मास सकल्पजा हिसा के बिना उपलब्ध नही होता। अतएव श्रावक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका सकल्पजा हिसा का त्याग टूटने न पावे।

जब कभी सकल्पजा हिसा से वचने के लिए आरभजा हिसा का आश्रय लेना पडता हे, उस समय भी श्रावक का उद्देश्य हिसा करना नही होता। कभी–कभी श्रावक को भी शस्त्र उठाना पडता है, वह भी गरीब और असहाय की रक्षा के लिए, नीति की रक्षा के लिए और अनीति–विरोध के लिए। इसी उद्देश्य से आतताइयो को दड भी देना पडता है। पर यह उस समय की वात हे, जव आत्मवल से उपद्रव का दमन करने की शक्ति न हो। सहयोग को ध्यान मे रखते हुए सब किया जाता हे। ऐसा नही कि सहयोग को छोड दिया जाय और केवल सघर्ष ही का सहारा लिया जाय।

कोई लोग समझते हैं कि हमारा काम तो शस्त्र से ही चलता है। शस्त्र, अर्थात् सघर्ष की ही दुनिया मे पूजा होती है। मगर वे भ्रम मे हैं। सहयोग की भावना के अभाव मे सघर्ष सत्यानाश का कारण बन जाता है।

18. हिंसाजनित वस्तुओं का उपयोग

शका की जा सकती हे कि जव कि श्रावक दो करण, तीन योग से हिसा का त्याग करता है और अनुमोदना करण को खुला रखता है, तो साक्षात् जीव को मार कर, उसके अगो से बने हुए पदार्थो का उपयोग कर सकता है या नहीं? उदाहरणार्थ, पशुओ को मार कर उनकी चमडी से बनाये गये जूतो का और उनकी निकाली हुई चर्बी वाले वस्त्रो का उपयोग करने से उसका व्रत भग होता है या नही?

इस विषय मे मेरा यह कहना है कि दो करण, तीन योग से हिसा का त्यागी श्रमणोपासक चमडी और चर्बी के ही उद्देश्य से मारे गये प्राणी की चमडी से बने जूतो का और चर्बी से बने वस्त्रो का उपयोग नही कर सकता। वह इस प्रकार हिसा करके तैयार की हुई किसी भी वस्तु को उपयोग मे नही ला सकता। अगर वह उपयोग मे लाता है तो उसके दो करण, तीन योग से किया हुआ त्याग टूट जाता है। यह बात मे अपने आत्मविश्वास से कहता हूँ।

आप कहेगे कि फिर अनुमोदना करण को खुला रखने से उसे क्या लाभ हुआ? इसका उत्तर यद्यपि पहले आ चुका हे, फिर भी यहॉ दोहराए देता हूँ। श्रावक के लिए वही अनुमोदना खुली हे कि जब तक वह गृहस्थी मे हे, तव तक उसे जात–पॉत वालो से सवध रखना पडता हे। जाति–विरादरी के जो लोग ऐसे जूते और कपडे पहनने वाले हैं, उनके साथ भी ससर्ग रखना पडता हे। इस ससर्ग के कारण उसे उस पाप की किसी अश मे अनुमोदना लगती है।

मैं पूछता हूँ, जो जानवर अपनी उम्र पूरी करके मरे हे, उनके चमडे से बने जूते नही मिलते? और क्या त्रस जीवो का वध किये विना ही वनने वाले कपडो की कमी हे? नही, ऐसा कुछ नही हे। परन्तु जिनके दिल मे उन वेचारे दीन पशुओ के प्रति दया–भाव नही हे, जिनसे तडक–भडक छोडी नही जाती, उन्हे इससे क्या मतलब हे? किसी प्राणी को चाहे जेसी यत्रणा दी जाय, कसा भी कष्ट क्यो न पहुँचाया जाय, उन्हे तो सीधी वस्तु चाहिए। पर

उन्हे समझना चाहिए कि ऐसी हिसाजनित वस्तुओ का उपयोग करने मे कितनी भीषण हिसा होती है, किस प्रकार की निर्दयता को प्रोत्साहन मिलता है? उस भयानक हिसा का विचार किया जायगा तो पता चलेगा कि ऐसी वस्तुओ को काम मे लाने वाला श्रावक दो करण, तीन योग से हिसा का त्यागी नही हो सकता।

थोडा विचार करो कि आनन्द जेसे ऋद्धिमान् श्रावक ने केवल सूत के ही वस्त्र क्यो रखे थे? वह रेशमी वस्त्र रख लेते तो क्या हानि थी? परन्तु वे अपने दो करण, तीन योग से किये हुए त्याग मे किसी प्रकार की बाधा नही पडने देना चाहते थे। लेकिन आज आपको तडक-भडक चाहिए। चमकदार रेशम चाहिए। मगर अपने त्याग का ओर रेशम के लिए होने वाली हिसा का जरा विचार तो करो।

सुना जाता है, एक गज रेशम तैयार करने मे चालीस हजार कीडो की हत्या होती है। चालीस हजार कीडो को मारने से एक गज रेशम तैयार होता है। पर उन गरीबो की ओर कौन ध्यान दे? वे किसके रिश्तेदार है?

मुलायम-मुलायम सूती वस्त्रो के लिए भी आज घोर हिसा हो रही है। अमेरिका के शिकागो नगर मे चर्बी निकालने का बडा कारखाना है। वहा इतने पशु मारे जाते है कि दरवाजे के समान बडा नाला खून का बहता है, परन्तु इस घोर हिसा की ओर भी कोन दृष्टि देता है? मित्रो। अगर आपको हिसाजनित रेशमी और सूती वस्त्रो से ही प्रेम है ओर प्राणियो की दया आपके दिल मे नही है तो फिर दो करण, तीन योग से हिसा के त्याग का ढोग क्यो करते हो? अगर आपके दिल मे दया उपजी हे तो ऐसे वस्त्रो का उपयोग करना छोड देना चाहिए।

यह ठीक हे कि जूतो का त्याग करने से आपको कठिनाई होगी। यह भी तथ्य हे कि आप वस्त्र मात्र का त्याग नही कर सकते, किन्तु जो जूते ओर जो वस्त्र प्राणियो का वध किये बिना ही तैयार होते है, उन्ही का उपयोग करने ओर वधजनित वस्त्रो और जूतो का त्याग कर देने मे क्या कठिनाई है? श्रावको को ऐसी वस्तुओ का व्यवहार कदापि नही करना चाहिए।

हाथी-दॉत के लिए हाथियो की हिसा की जाती है, फिर भी कई श्राविकाऍ उनका उपयोग करती हे। उन्हे ऐसा करना शोभा नही देता। जब

सोने–चादी की चूडियो से काम चल सकता हे, तो फिर हिसावर्द्धक चीजो का उपयोग करने से क्या लाभ हे? क्यो व्यर्थ पाप का उपार्जन किया जाता हे?

मुम्बई मे जो गाये–भैसे ले जाई जाती हैं, उन्हे बहुत कष्ट दिया जाता है। प्रथम तो वे इतने सॅकडे स्थान मे रखी जाती हैं कि इधर–उधर मुड भी नही सकती। जब वे व्याती हैं तो उनके वच्चे कसाई के हवाले कर दिये जाते हैं और नकली बच्चे उनके सामने रख दिये जाते हैं। वेचारे भोले जानवर उन्हे अपना वच्चा समझकर दूध देते रहते हैं। जब तक वह जानवर कमाई का साधन बना रहता है, अर्थात् खर्च से अधिक आमद देता रहता हे, तव तक उसे रखा जाता है और दूध की कमी होने पर आमद कम ओर खर्च ज्यादा होने लगता है, तब उन्हे भी कसाई को सॉप दिया जाता हे।

कसाई उन्हे खुले स्थान मे ले जाता हे, तो उन्हे कुछ आराम मालूम होता है, पर थोडी ही देर मे उनके चारो पैर बॉध दिये जाते हैं ओर ऊपर से लट्ठो की मार मारी जाती है। मार पडने से उनका मास ढीला और चमडा मोटा हो जाता हे। इस प्रकार अत्यन्त क्रूरता के साथ उनके प्राण लिये जाते ह ओर फिर उनका मास और चमडा अलग–अलग किया जाता है।

कई बार जिदा जानवरो की ही खाल उतार ली जाती हे। क्योकि वह वाद मे भी मुलायम रहती है। उससे जूते आदि मुलायम–मुलायम चीजे तैयार की जाती हैं।

भारतवर्ष मे पहले प्राय अत्याचार नही होते थे। मुर्दा जानवरो का चमडा काम मे लाया जाता था। मगर आजकल तो लाखो जानवरो का अत्यन्त क्रूरतापूर्वक वध किया जाता हे। इस वध का उत्तरदायित्व क्या उन लोगो पर भी नही आता जो इन हिसाजनित वस्तुओ का उपयोग करते हैं? क्या वे इस पापाचार को उत्तेजना नही दे रहे हे? अगर कोई ऐसी वस्तुओ का उपयोग करना छोड दे तो इतनी घोर हिसा क्यो हो?

जो लोग कहते हैं कि इस प्रकार की वस्तुओ का उपयोग करने पर भी श्रावक के दो करण, तीन योग से किये त्याग का भग नही होता, वे भूलते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि यदि कोई सीधा मास लाकर खा ले तो उसका व्रत भग होगा या नही? अगर भग होता है तो चर्वी ओर चमडी का उपयोग करने से भी क्यो भग नही होगा?

कई लोग कहते हें कि वह वस्तु स्वत मरे प्राणी की चमडी से वनी है अथवा इसके लिए प्रणी मारा गया हे, यह निर्णय केसे किया जाय? मे समझता हूँ कि निर्णय होना कोई वडी वात नही हे। फिर भी अगर निर्णय न

हो तो सदिग्ध वस्तु का व्यवहार करना छोड देने पर भी [illegible]
जाता है? मौज–शोक की भावना जरा कम कर दीजिए [illegible]
शकाएँ स्वत शात हो जाएँगी।

कई लोग कहते है, ये कत्लखाने और कारखाने [illegible]
चलते हैं। हम उन चीजो को लेना बन्द कर देगे तो क्या [illegible]

मै कहता हूँ– कारखाने बद हो जाएँ या चले [illegible]
आप अपने को पाप का भागीदार न बनने देने का विचार [illegible]
लोग ऐसी वस्तुओ का व्यवहार करना छोड द तो अवश्य ही [illegible]
जाएँगे। पर ऐसा नही होता, तो भी आप तो उनका त्याग [illegible]
करने से आप व्यक्तिगत पाप से बच जाओगे।

मान लीजिए, किसी ने एक कत्लखाना खोला और 5 [illegible]
रखा। अब आप उसके शेयर ले या न ले, कारखाना तो बन्द नहीं होगा। [illegible]
आप उसका शेयर खरीदेगे तो आपको पाप लगेगा या नही? अवश्य लगेगा
और अगर आप न खरीदेगे तो पाप से बच जाएंगे। व्यक्ति–व्यक्ति [illegible]
समष्टि बनती है। व्यक्तिगत पाप टल जायगा तो धीरे–धीरे समष्टिगत पाप
भी टल जायगा।

इस प्रकार विचार कर जो अहिसाधर्म का पालन करेगे, वही कल्याण
के पात्र होगे।
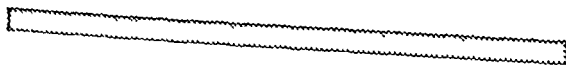
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा एक महान् क्रातिकारी सत हुए है। आषाढ शुक्ला अष्टमी, सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई, जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनतर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए है। आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो के सकलित, सम्पादित ग्रथो को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणो का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा हे। इनमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य हे। आज गौरवान्वित है गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि, जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला ओर ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी जी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

सस्था द्वारा एक पुस्तकालय का सचालन किया जाता हे जिसमे लगभग 5000 पुस्तके एव लगभग 400 हस्तलिखित ग्रथ हे। इसी से सम्बद्ध वाचनालय मे देनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकाए उपलब्ध करवाई जाती हे। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इनसे लाभान्वित होते हे। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र मे पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हे ओर क्षेत्र मे अद्वितीय है।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई बुनाई, कढाई–प्रशिक्षण–केन्द्र का सचालन किया जाता है जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई बुनाई कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपनी गृहस्थी के कार्यो मे योगदान दे सकती है और आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती है।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयो पर प्रवचन आयोजित किए जाते है।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया–स्मृति–पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यो से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।